कल्याण

वर्ष ३०] [अङ्क ९

रघुपति राघव राजाराम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन सं० २०१३, सितम्बर १९५६

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥-) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

भगवान् विष्णु बालरूपमें

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
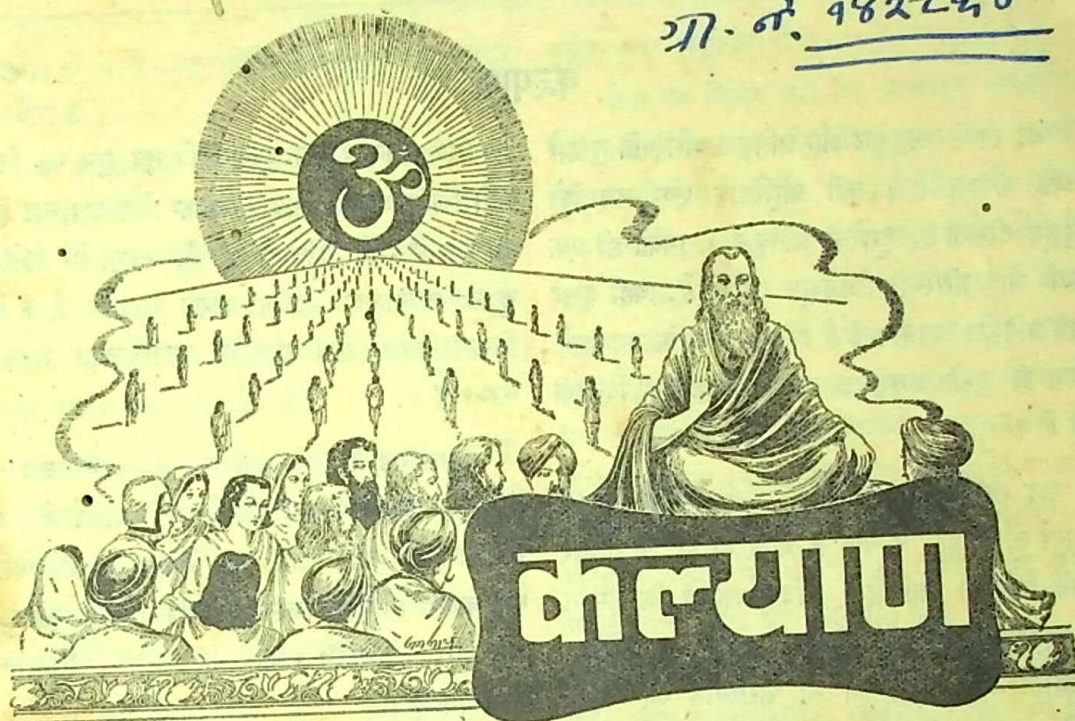
पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥
(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० } गोरखपुर, सौर आश्विन २०१३, सितम्बर १९५६ { संख्या ९ पूर्ण संख्या ३५८

अद्भुत बालक

नीलश्याम अद्भुत तेजोमय बालक कमलनयन भुज चार ।
चक्र-गदा दक्षिण-कर शोभित, वाम शंख-पंकजको धार ॥
कौस्तुभमणि श्रीवत्स वक्षपर उरमें रत्न-कुसुमके हार ।
अति सुन्दर पीताम्बर कटिमें करधनि मणिमय शोभा सार ॥
मणिवैदूर्य-महार्घ-विनिर्मित मुकुट शीश घुँघराले केश ।
चमक रहे अति सूर्य-रश्मि-से पाकर कुण्डल-कान्ति विशेष ॥
भुज अंगद राजत, कर कङ्कण, रत्नाभरण सुशोभित वेश ।
परम मनोहर रूप-माधुरी सुन्दरताकी सीमा शेष ॥

कल्याण

याद रक्खो—अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति तुम्हारे मनकी कल्पना है। वही परिस्थिति एक मनुष्यको अनुकूल दीखती है, दूसरेको प्रतिकूल। तुमको ही एक समय जो परिस्थिति अनुकूल लगती है, वही दूसरे समय प्रतिकूल लग सकती है। तुम्हारे मनके राग-द्वेषके कारण ही तुम्हें अनुकूलता तथा प्रतिकूलता दिखायी देती है।

याद रक्खो—परिस्थितिके सम्बन्धमें तुम्हारे मनकी कल्पना तो है ही, पर यदि वे आती भी हैं, तो तुम्हारे लाभके लिये ही आती हैं। तुमको चाहिये कि तुम न तो अनुकूल परिस्थितिकी इच्छा करो, न प्रतिकूल परिस्थितिसे भय करो। जो भी परिस्थिति आ जाय, उसीसे लाभ उठाओ। विचार तथा क्रियाके द्वारा उसका सदुपयोग करके उसे अपने साधनमें सहायक बना लो।

याद रक्खो—संसारमें जिन वस्तुओंको तुम चाहते हो, उनके न मिलनेकी या चले जानेकी स्थितिको, तथा जिनको नहीं चाहते उनके बने रहने और मिल जानेकी स्थितिको प्रतिकूल परिस्थिति मानते हो और जिन वस्तुओंको नहीं चाहते हो, उनके न मिलनेकी या चले जानेकी स्थितिको तथा जिनको चाहते हो उनके बने रहने और मिल जानेकी स्थितिको अनुकूल परिस्थिति मानते हो। असलमें दोनों ही तुम्हारी कामनाके आधारपर कल्पित मान्यता हैं। तथापि तुम्हारी बुद्धिमानी इसीमें है कि तुम इन दोनोंको ही अपने कार्यकी सफलतामें साधन बना लो।

याद रक्खो—तुम जिसको नहीं चाहते, उसके मिलनेका नाम तुम्हारी भाषामें दुःख है और जिसको चाहते हो, उसके [illegible] जाने[illegible] नाम सुख है। यह तो जानते-मानते ही हो कि [illegible] पापका फल है और सुख पुण्यका। अतएव जब दुःख आवे तब तुम यह निश्चय करो कि दुःखरूपी फल भुगताकर मेरा पाप नष्ट किया जा रहा है—मैं पवित्र हो रहा हूँ, अतएव मेरे लिये यह दुःख पापनाशक होनेके कारण सुखरूप है। ऐसा निश्चय करना उस दुःखकी परिस्थितिका सदुपयोग करना है।

दूसरा यह निश्चय करो कि दुःख मेरे अपने ही किये हुए पापका फल है और बड़ा क्लेशदायक है। मुझे यह ज्ञान हो गया—अतः अब मैं इस जीवनमें 'कभी पाप करूँगा ही नहीं, जिससे भविष्य-जीवनमें मुझे दुःख प्राप्त होगा ही नहीं'। यह भी दुःखकी परिस्थितिका सदुपयोग है।

तीसरा यह निश्चय करो कि दुःखमें मुझे कितना भारी कष्ट होता है, इस अवस्थामें मैं सबसे सहायता और सहानुभूतिकी आशा करता हूँ; चाहता हूँ—कोई अपना सुख देकर मेरा दुःख मिटा दे। इसी प्रकार जिन लोगोंपर दुःख आया हुआ है, वे भी दुःखमें सहायता-सहानुभूति चाहते हैं, इस दुःखने मुझे यह सत्य दिखला दिया है। अतः अब मैं अपनी सुखकी स्थितिमें उस सुखको दुखियोंमें बाँट-बाँटकर उनके साथ सच्ची सहानुभूति दिखाकर उनके दुःखका हरण करके सुखी बनूँगा। यह भी दुःखकी परिस्थितिका सदुपयोग है।

चौथा यह निश्चय करो कि दुःखमें भगवान्‌की याद आती है तथा संसारसे विरक्ति-सी होती है, इसलिये भगवान्‌की याद दिलानेवाला तथा वैराग्य करानेवाला होनेके कारण यह दुःख मेरे लिये बड़ा ही मङ्गलमय है। इस दुःखकी स्थितिमें मैं भगवान्‌के शरणापन्न होकर उनका खूब स्मरण करूँ और अपना जीवन उनके अर्पण कर दूँ—इस प्रकार निश्चय करके भगवत्स्मरण करना और भगवान्‌के

शरणागत हो जाना—दु:खकी परिस्थितिका बहुत सुन्दर सदुपयोग है ।

याद रक्खो—इसी प्रकार 'सुखकी परिस्थितिमें हर्ष तथा अभिमानमें न भरकर—प्रमाद न करके उसका सदुपयोग' करो । ऐसा निश्चय करो कि सुख पुण्यका फल है, पुण्य पूरा होते ही यह सुख भी समाप्त हो जायगा । अत: मैं बराबर पुण्य कर्म ही करूँगा । यह निश्चय उस सुखका सदुपयोग है ।

दूसरा यह निश्चय करो कि मेरे पास जो सुख है, यह दुखियोंकी अपेक्षासे ही है, अत: यह उन्हींकी सम्पत्ति है, अत: इस सुखको मैं उन्हींमें बाँटा करूँगा । यह निश्चय करके अपने सुखको दुखियोंमें बाँटकर उनको सुखी बनाओ । यह सुखका सदुपयोग है ।

तीसरा यह निश्चय करो कि मैं इस सुखमें प्रमाद-वश सत्कर्म करना छोड़कर तथा भगवान्‌को भूलकर सुखोपभोगमें लग जाऊँगा तो—पुण्य क्षीण होते ही यह सुख तो चला ही जायगा । पर मैंने जो सुखोपभोगकी इच्छा तथा क्रियामें पाप कमाया, उसका बुरा फल अगले जन्मोंमें मुझे भोगना पड़ेगा तथा भगवान्‌के भूलनेसे मानवजीवन जो व्यर्थ गया, यह महान् हानि होगी । अत: मैं इस सुखको भगवान्‌की स्मृतिमें साधन बनानेके लिये इसे भगवान्‌के अर्पण करता रहूँगा तथा उन्हें सदा याद रक्खूँगा और जो पुण्यकर्म करूँगा, वह भी निष्काम-भावसे उनकी प्रसन्नताके लिये ही । यह भी सुखका बहुत सुन्दर सदुपयोग है ।

चौथा यह निश्चय करो कि भगवान्‌ने अपना परम विश्वासपात्र, ईमानदार और क्रियाकुशल जन समझकर मुझे अपनी सेवामें नियुक्त किया है और यह सुखरूप अपनी चीजें यथायोग्य सेवा करनेके लिये सौंपी हैं । वस्तु उनकी है, शक्ति उनकी है, प्रेरणा उनकी है और विश्वके जीवमात्रके रूपमें प्रकट भी वही हैं । मुझे तो केवल उन्होंने निमित्त बनाकर सेवकपदका गौरव दिया है । अतएव मैं इस सुखसामग्रीको भगवान्‌की वस्तु मानकर निरन्तर ईमानदारीके साथ परिश्रमपूर्वक यथायोग्य सावधानीसे उनकी सेवामें लगाता हुआ अपनेको धन्य समझूँगा । और यों करने लग जाओ । यह सुखकी परिस्थितिका बहुत श्रेष्ठ सदुपयोग है ।

याद रक्खो—इस प्रकार सुख-दु:खका—अनुकूल-और प्रतिकूल परिस्थितिका सावधानीसे सदुपयोग करोगे तो वे तुम्हारे जीवनके असली उद्देश्य परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक हो जायँगी । अतएव न किसी खास परिस्थिति-की इच्छा करो, न किसी प्राप्त परिस्थितिको बदलना चाहो । जो भी परिस्थिति प्राप्त हो जाय, उससे लाभ उठाओ ।

याद रक्खो—प्रत्येक परिस्थितिको—उसे अनुकूल-प्रतिकूल न मानकर परमात्माकी माया समझो, उसे केवल देखते रहो और किसी भी परिस्थितिसे जरा भी प्रभावित न होकर आत्मस्वरूपमें स्थित रहो, यह भी उनका श्रेष्ठ सदुपयोग है ।

'शिव'

प्रत्येक परिस्थिति साधनरूप

भगवान्‌ने दी जो परिस्थिति वही साधनरूप है,
विश्वास करके उसे बरतो, फल महान् अनूप है ।
विश्वासहीन मनुष्यको सर्वत्र अन्धा कूप है,
विश्वाससे मिलते हरी विश्वास प्रभुका रूप है ।

क्या ईश्वर-साक्षात्कार हो सकता है ?

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज)

श्रुतिसिद्धान्तसारोऽयं तथैव त्वं स्वया धिया।
संविचार्य निदिध्यास्य निजानन्दात्मकं परम्॥
साक्षात् कृत्वापरिच्छिन्नाद्वैतब्रह्माक्षरं स्वयम्।
जीवन्नेव विनिर्मुक्तो विश्रान्तः शान्तिमाश्रय॥

(८२-८३)

'तत्त्वोपदेश' नामक ग्रन्थमें श्रीशङ्कराचार्य अपने शिष्यको साक्षात्कार—ब्रह्मसाक्षात्कार करनेकी विधि बतलाते हुए सब बातें समझाकर उपसंहारमें कहते हैं—'शिष्य ! इस प्रकार साक्षात्कारके सम्बन्धमें श्रुतियोंके सिद्धान्तको साररूपमें मैंने तुमको बतलाया। अब इसी प्रकार अपनी बुद्धिके द्वारा यथार्थ निश्चय करके निदिध्यासन करो, उसको जीवनमें उतारो। फिर जिसमें द्वैतभावका सर्वथा नाश हो जाता है, ऐसे अपने आनन्दरूप अविनाशी परब्रह्मका साक्षात्कार करके तुम स्वयं इसी जीवनमें—इस शरीरमें रहते हुए ही भलीभाँति मुक्त हो जाओ तथा विश्रान्तिको प्राप्त करके शान्तिका आश्रय करो—जीवन्मुक्त होकर विचरो।'

इस प्रकार 'ईश्वर-साक्षात्कार' एक सत्य तत्त्व है। इतनेपर भी मनुष्योंको उसपर शंका हुए बिना नहीं रहती; क्योंकि जीवोंका यह स्वभाव है, उनको ऐसा विचार हुआ ही करता है कि क्या सचमुच ईश्वर-साक्षात्कार होता है ? अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग तो कहते हैं कि 'यह 'स्वयंविमोहन' (Auto-hypnotism) के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह तो अपने-आपको धोखा देनेके समान है।' इस स्थितिमें आज हमलोग इस विषयपर विचार करेंगे।

कुछ समय पहले एक संत हो गये हैं। वे श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ संन्यासी थे। उनकी कीर्ति आज भी सब ओर फैली है। इन महात्माके पास एक विद्वान्ने जाकर निम्नलिखित प्रश्न किया—

प्रश्न—महाराज ! आप तो समर्थ विद्वान् हैं, उच्चकोटिके भक्त हैं, साथ ही जीवन्मुक्तकी दशामें विचरते हैं; मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपको ईश्वर-साक्षात्कार हुआ है या नहीं ? यदि आपके समान समर्थ संतको भी आजतक ईश्वर-साक्षात्कार न हु[illegible] हो [illegible] फिर मेरे-जैसे मनुष्यको तो होगा ही कहाँसे ? सं[illegible] इतना ही जानना चाहता हूँ कि ईश्वरका साक्षात्कार किसीको हो सकता भी है या यह केवल मनका भ्रममात्र है (अंग्रेजीमें—Self-deception आत्म-प्रतारणा है) ?

उत्तर—भाई ! आपने बहुत अच्छा प्रश्न किया। मैं आपको स्पष्ट शब्दोंमें जनाता हूँ कि मुझको ईश्वरका साक्षात्कार हो गया है और सदा-सर्वदा सर्वत्र मुझे उसीके दर्शन होते रहते हैं।

प्रश्न—परंतु महाराज ! आपको सचमुच ही साक्षात्कार हुआ है, या साक्षात्कारका केवल आपका मानसिक भ्रम है ! इसका निश्चय कैसे हो ?

उत्तर—मानना न मानना तो आपकी इच्छापर निर्भर है, परंतु मुझे तो इतना निश्चय है कि इन्द्रियजन्य ज्ञानमें भ्रम होना सम्भव है; क्योंकि वहाँ हमें अपने सीमित—मर्यादित शक्तिवाले साधनोंसे असीम, अनन्त और अगाध ब्रह्माण्डका ज्ञान प्राप्त करना है; उदाहरणके लिये—अमेरिकाके सुप्रसिद्ध 'स्मीट' दूरबीनसे प्राप्त ज्ञानमें भ्रमका रहना सम्भव है। कारण, आज यह दूरबीन सर्वोपरि मानी जाती है; परंतु भविष्यमें इससे भी अधिक शक्तिवाली दूरबीनका बनना और उसके द्वारा देखनेपर आजके ज्ञानका भ्रमयुक्त सिद्ध होना सम्भव है।* परंतु ईश्वरके साक्षात्कारमें भ्रम होनेकी सम्भावना ही नहीं है। आप यहाँ मेरे सामने बैठे हुए जितने प्रत्यक्ष हैं, मेरे लिये इससे भी अधिक प्रत्यक्ष ईश्वर है। इसका कारण यह है कि आप शरीरसे दूर बैठे हैं, परंतु ईश्वरका अनुभव तो शरीरके रोम-रोममें होता रहता है। इससे बढ़कर स्पष्टीकरण और क्या होगा ?

---

* देखिये—आजतक वैज्ञानिकोंका ऐसा निश्चय था कि 'पृथ्वी सूर्यके आसपास घूमती है।' हालमें इसपर शंका होने लगी है और कितने ही ऐसा मानने लगे हैं कि 'कदाचित् सूर्य पृथ्वीके आसपास घूमता हो।' अनुसंधान चल रहे हैं और उनका परिणाम यदि निकला कि 'सूर्य घूमता है'—तो फिर 'पृथ्वी घूमती है' इस ज्ञानको भ्रममूलक ही कहा जायगा। इसी प्रकार इन्द्रियजन्य ज्ञानमें भ्रम हो सकना अनिवार्य है; क्योंकि हमारे साधन मर्यादित ही हैं, चाहे आज हम उन्हें पूर्ण मानते हों।

प्रश्न—परंतु महाराज ! श्रुति तो कहती है कि 'अविज्ञातं विजानताम्' यानी जो यह कहते हैं कि 'हमें ईश्वरका साक्षात्कार हो चुका है' उनको तो वह हुआ ही नहीं, इसका क्या समाधान है ?

उत्तर—इस श्रुतिवाक्यको मैं जानता हूँ और जाननेपर भी यह कहता हूँ कि मुझे सर्वत्र ईश्वरके ही दर्शन होते हैं। आप इस श्रुतिवाक्यका तात्पर्य नहीं समझते, इसीसे आपको इसमें विरोध भास रहा है, बस, इतनी ही बात है।

प्रश्न—तब क्या महाराज ! मेरे-जैसा मनुष्य भी सचमुच ईश्वर-साक्षात्कार कर सकता है ?

उत्तर—अवश्य, ईश्वरका साक्षात्कार करनेमें अमुक वर्णका ही अधिकार है, ऐसी बात नहीं है। अमुक आश्रमका अधिकार है, ऐसा भी नहीं है। इसी प्रकार पुरुष साक्षात्कार कर सकता है, स्त्री नहीं कर सकती, ऐसा भी कोई नियम नहीं है। वहाँ तो सबका समान अधिकार है; फिर आप क्यों नहीं कर सकते ?

बहुत-से लोग तो स्वयं ही अपनेको धोखा देते हैं। वे मुँहसे तो ऐसा कहते हैं कि 'हमें ईश्वरका साक्षात्कार करना है, पर साथ ही यह भी कहते हैं कि यह बड़ी कठिन बात है।' परंतु मेरा अनुभव तो यह कहता है कि मनमाने विषयोंकी प्राप्ति करना जितना कठिन है, उतना कठिन काम ईश्वरकी प्राप्तिका नहीं है। विषयोंकी प्राप्तिके लिये जितना परिश्रम मनुष्य करता है, उसका दशांश परिश्रम भी ईश्वरकी प्राप्तिके लिये नहीं करना पड़ता। सच बात तो यह है कि मनुष्यको जितनी इच्छा विषयप्राप्तिकी है, उससे आधी जिज्ञासा भी ईश्वर-प्राप्तिके लिये नहीं है। 'बोधसार' में ठीक ही कहा है—

> **मुमुक्षा दम्भमात्रं ते न ते तीव्रा मुमुक्षुता।**
> **तीव्रा यदि मुमुक्षा स्यान्न विलम्बो भवेदिह॥**

साधारण मनुष्य तो केवल बातें बनाना और शास्त्रोंकी निन्दा करना ही अपना काम समझते हैं। उनमें मुमुक्षा तो नाममात्रको भी नहीं होती, उसका दम्भ अवश्य होता है।

ईश्वर-प्राप्तिकी तीव्र इच्छा होनेपर प्राप्ति होनेमें देर लगती ही नहीं। सत्य बात तो यह है कि मनुष्यको ईश्वर-साक्षात्कारकी इच्छा ही नहीं होती; और वह कहता है कि 'भाई ! यह इतना कठिन काम है कि इसका हो सकना सम्भव नहीं है।' इस प्रकार मनुष्य अपने-आपको धोखा देता है और या तो ईश्वर-प्राप्तिको अत्यन्त कठिन बतलाता है, अथवा तो 'यह एक भ्रम है—मनकी एक कल्पनामात्र है', यों जगत्‌में कहता-फिरता है। जगत्‌में बहुत-से लोग इस प्रकारके मनुष्योंकी बातोंको सच मानकर अपनी मंद जिज्ञासाको भी गँवा बैठते हैं।

पर, ईश्वर-साक्षात्कार तो बहुतोंको हुआ है। आज भी होता है और साधना करनेपर भविष्यमें भी हुए बिना नहीं रहेगा। जो लोग कहते हैं कि 'ईश्वर-साक्षात्कार होता ही नहीं है, अथवा तो वह केवल मानसिक भ्रममात्र है,' वे कुछ भी परिश्रम न करके केवल बकवाद ही करनेवाले हैं।

मेवाड़में मीराँबाईको, दक्षिणमें तुकारामको, सौराष्ट्रमें नरसी मेहताको और बंगालमें श्रीरामकृष्ण परमहंसको ईश्वर-साक्षात्कार होनेकी बात सभी मानते हैं। जैसे दो प्राकृत मनुष्य परस्पर बातें करते हैं, वैसे ही ये लोग अपने-अपने इष्टदेवके साथ प्रत्यक्ष बातचीत किया करते थे; यह जनसाधारणको भी अच्छी तरह विदित है। भक्त बोडाणाके लिये तो भगवान्‌ने अपने अर्चाविग्रहको चेतन बनाकर उसकी गाड़ी हाँकी और देखते-ही-देखते क्षणोंमें उसे द्वारकासे डाकोर पहुँचा दिया था। श्रीचैतन्यमहाप्रभु तो चौबीसों घंटे ईश्वरके भावावेशमें ही रहते। स्वामी रामतीर्थको हुए अभी थोड़े ही वर्ष हुए हैं। वे भाषण देते-देते, अथवा ओंकारका गुंजार करते-करते आत्मभावमें लीन हो जाते और थोड़ी देरके बाद वृत्तिके बहिर्मुख होनेपर पुनः भाषण चालू करते। श्रीरमण महर्षिको ब्रह्मलीन हुए अभी एक दशक भी नहीं बीता है। वे भी भावसमाधिमें ही रहते। इस बातको बहुत-से देशी-विदेशी तथा अन्यधर्मी पुरुषोंने भी आँखों देखा है। इस समय भी ईश्वर-साक्षात्कारको प्राप्त पुरुष हैं। इस प्रकार ईश्वर-साक्षात्कार होता है, हुआ है और अवश्य होता है, यह निश्चित है। फिर, मानना न मानना तो अपने अधिकारकी बात है।

अब एक बात समझ लेनेकी है। अपने शास्त्रोंमें अधिकारके अनुसार विभिन्न साधनप्रणालियाँ बतलायी गयी हैं और इसीलिये पृथक्-पृथक् पारिभाषिक शब्दोंका व्यवहार किया जाता है। 'ईश्वर-साक्षात्कार', 'आत्मसाक्षात्कार', 'आत्मा-परमात्माका मिलन', 'भगवत्प्राप्ति', 'भगवद्दर्शन', 'आत्मज्ञान' आदि विभिन्न [illegible]का प्रयोग एक ही स्थितिको बतानेके लिये होता है। [illegible]ताामें ही देखिये तो

इसके लिये भिन्न-भिन्न कई शब्दोंका प्रयोग मिलेगा। यहाँ शब्दोंमें विभिन्नता होनेपर भी तात्पर्य एक ही है और विभिन्न शब्दोंके प्रयोगका कारण साधनप्रणालियोंका भेद है।

भगवान् परमात्मेति प्रोच्यतेऽष्टाङ्गयोगिभिः।
ब्रह्मेत्युपनिषन्निष्ठैर्ज्ञानं च ज्ञानयोगिभिः॥

उस परमतत्त्वको भक्त भगवान् कहते हैं, अष्टाङ्गयोगी परमात्मा, वेदान्ती ब्रह्म और ज्ञानयोगी ज्ञान—ज्ञानस्वरूप कहते हैं।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(श्रीमद्भागवत १।२।११)

एक ही अद्वयज्ञानतत्त्वको तत्त्ववेत्तागण 'ब्रह्म' कहते हैं, कोई परमात्मा कहते हैं तो कोई भगवान् कहते हैं। नाम पृथक्-पृथक् हैं, वस्तुतत्त्व एक ही है।

इतना स्पष्टीकरण करनेमें हमारा हेतु यह है कि आजकल लोग गुरुके समीप रहकर शास्त्राभ्यास तो करते नहीं, अपने-आप ही ग्रन्थ पढ़ने लगते हैं। ग्रन्थोंमें प्रसङ्गानुसार भिन्न-भिन्न शब्दोंका प्रयोग देखकर उनको विरोध दिखायी देता है और वे 'स्वयं नहीं समझते' ऐसा न मानकर 'यह सब मिथ्या है' यों कह देते हैं।

फिर, कुछ लोग यह पूछा करते हैं कि 'क्यों तो इतनी साधनप्रणालियाँ बतायी गयीं और क्यों इतने शब्दोंका ही प्रयोग किया गया?' इस प्रश्नका उत्तर एक स्थूल दृष्टान्तसे समझिये। विभिन्न प्रदेशोंमें रहनेवाले कई मनुष्योंको बंबई जाना है। सौराष्ट्रमें रहनेवाला पूर्वकी ओर होकर दक्षिण जाकर बंबई पहुँचता है। मलाबारसे जानेवाला उत्तरकी ओर यात्रा करके वहाँ पहुँचता है और बंगालसे आनेवाला मनुष्य पश्चिमकी ओर होता हुआ दक्षिण जाकर बंबई पहुँचता है। यों प्रत्येकके लिये भिन्न-भिन्न मार्ग अनिवार्य हैं, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य भिन्न-भिन्न दिशाओंके प्रदेशोंसे बंबई जाते हैं। इसी प्रकार किन्हीं भी दो मनुष्योंकी बुद्धिपर स्थित संस्कार एक-से नहीं होते। इसका कारण पूर्वजन्मके कर्म हैं। यों समस्त साधकोंको पहुँचना तो है उस एक ही मुकामपर—एक ही परमात्मामें, परंतु संस्कार-भेदके कारण सबका अधिकार एक-सा नहीं होता। इसीलिये भिन्न-भिन्न साधनमार्गोंका होना [illegible]निवार्य [illegible] संक्षेपमें इतना ही समझ लेना है कि चेतन सत्ता [illegible] है और वही अनेक नामोंसे पुकारी जाती है—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।' सद्वस्तु एक ही है, चेतन एक ही है; परंतु अधिकारभेदसे विद्वानोंने उसका अनेक प्रकारसे वर्णन किया है।

इस बातको शास्त्रने यों समझाया है—

मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युतः।
रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात् तथाच्युतः॥

एक स्फटिक मणि रक्खी हो और उसके चारों ओर नीले, पीले, लाल, काले पुष्प पड़े हों। इससे पृथक्-पृथक् दिशाओंसे देखनेपर मणि पृथक्-पृथक् रंगोंकी दिखायी देगी। परंतु मणि तो शुद्ध-श्वेत ही है, केवल पुष्पोंका रंग उसमें प्रतिबिम्बित होता है। इसी प्रकार परमात्मा स्वरूपतः एक ही है, तथापि साधनप्रणालियोंके भेदसे उसको भिन्न-भिन्न प्रकारसे साधकगण भजते हैं और बुद्धिके संस्कारभेदके कारण भिन्न-भिन्न साधनप्रणालियोंका होना अनिवार्य है।

फिर, यदि ईश्वरीयसाक्षात्कार न होनेकी बात होती, वह केवल बुद्धिका भ्रम ही होता, तो जीवन्मुक्तकी स्थितिका वर्णन, जो अनादिकालसे चला आता है, न चलता। झूठी बात सदा नहीं निभ सकती। एक मनुष्यको बहुत कालतक भ्रममें रक्खा जा सकता है, सब लोगोंको थोड़े दिनोंके लिये भ्रममें रक्खा जा सकता है, परंतु सारे जगत्को सदाके लिये भ्रममें रखना नहीं बन सकता। ईश्वर-साक्षात्कार यदि बुद्धिका भ्रम ही होता तो कोई भी विचारशील पुरुष उसके लिये अथक परिश्रम नहीं करता और आज भी शास्त्ररीतिके अनुसार यदि कोई मुमुक्षु साधना करता है तो उसको ईश्वर-साक्षात्कार हुए बिना नहीं रहता। जबतक ईश्वर है, तबतक ईश्वरका साक्षात्कार होगा ही और ईश्वर सदा-सर्वदा रहेगा ही। उसका अभाव कभी सम्भव ही नहीं।

दूसरी तरहसे देखें तो न्यायदर्शन कहता है—

'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।'

कोई भी प्रयोजन सिद्ध करना न हो तो एक बुद्धिहीन मनुष्य भी किसी काममें प्रवृत्त नहीं होता, तो फिर शास्त्रोंको ऐसा क्या प्रयोजन था कि वे मनुष्योंको भ्रममें डालते? वेद तो ईश्वरप्रणीत हैं, उपनिषद् साक्षात्कार प्राप्त किये हुए ऋषियोंकी प्रसादी हैं, स्मृतिग्रन्थ और पुराण भी तपःपूत ऋषियोंके द्वारा लिखित हैं। इन ऋषियोंमें कोई भी ईषणा नहीं थी। वे अरण्यमें त्यागप्रधान तपस्वी जीवन बिताते थे। उनको लोककल्याणके सिवा दूसरी कोई कामना ही नहीं

थी। ऐसी स्थितिमें उनको एक भ्रममूलक सिद्धान्तको उपस्थित करनेमें क्या प्रयोजन हो सकता है? सच बात तो यह है कि मानव-जीवनकी चरितार्थताही है—ईश्वर-साक्षात्कार कर लेनेमें। विषय-भोग तो सभी योनियोंमें बिना परिश्रम ही प्राप्त हैं। इससे यह स्वीकार करना पड़ता है कि उनका बतलाया हुआ सिद्धान्त यथार्थ ही है और वह लोक-कल्याणके लिये ही है।

एक वैज्ञानिकने कहा—दो भाग 'हाइड्रोजन' और एक भाग 'ऑक्सीजन' मिलानेपर जल बन जाता है। यह सुनकर एक सज्जन कहने लगे कि 'तुम्हारी यह बात झूठ है; हवासे जल बन जाता है, ऐसी असम्भव बात हम नहीं मान सकते।' पर यों कहना उचित नहीं है। इस बातको झूठ वही बता सकता है जो साधन-सम्पन्न होकर 'हाइड्रोजन' को और 'ऑक्सीजन'को पहचानता हो और प्रयोगशालामें जाकर प्रयोग करके सिद्ध कर दे कि इनसे जल नहीं बना। इतना किये बिना इस सिद्धान्तको झूठा बताना मूर्खताके सिवा और कुछ भी नहीं है।

ऐसी ही बात आध्यात्मिक सत्यकी है। पद्धतिके अनुसार अभ्यास करके, यम-नियमादि साधन करके, षट्सम्पत्तिका अनुशीलन करके, विवेकयुक्त तीव्र वैराग्य धारण करके, अन्तःकरणके मल और विक्षेप-दोषका कर्म तथा उपासनाके द्वारा निराकरण करके कोई तीव्र मुमुक्षावाला साधक ईश्वर-साक्षात्कारके लिये गुरुके सामने रहकर साधन करे और उसे ईश्वरका साक्षात्कार न हो, तो वह कह सकता है कि—ईश्वरका साक्षात्कार मनका एक भ्रममात्र है। परंतु ऐसे साधन-सम्पन्न पुरुषको साक्षात्कार हुए बिना रहता ही नहीं। ईश्वरके ऐसे ही वचन हैं और वेद भी उसीकी साक्षी देता है।

अब एक बात और कहनी रह गयी। विज्ञानका भौतिक प्रयोग करते समय भी 'इस प्रयोगका अमुक परिणाम आवेगा' ऐसी श्रद्धासे ही प्रयोगका प्रारम्भ होता है। परंतु इसमें कुछ अंशमें कुतूहल-वृत्ति भी होती है कि 'देखें तो सही क्या होता है?' पर अध्यात्म-साधनामें तो ऐसी बात चलती ही नहीं; वहाँ तो सम्पूर्ण श्रद्धा चाहिये। कुतूहल वृत्तिका लेशमात्र भी वहाँ नहीं रहता। श्रद्धाके बिना किया हुआ कर्म निरर्थक हो जाता है। यह बतलाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

> अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
> असदित्युच्यते पार्थ न तत्प्रेत्य नो इह॥
> (गीता १७। २८)

अश्रद्धासे किया हुआ यज्ञ, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप—अभिप्राय यह कि अश्रद्धासे किया गया कोई भी कर्म हे पार्थ! व्यर्थ ही जाता है। उसका फल न तो इस लोकमें मिलता है, न परलोकमें ही।

तब अध्यात्म-साधनामें क्या आवश्यक है? यह प्रश्न सहज ही होता है और इसका उत्तर भी भगवान्ने पहलेसे दे रक्खा है—

> श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
> ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
> (गीता ४। ३९)

तात्पर्य यह कि ज्ञानकी प्राप्तिके लिये—ईश्वरका साक्षात्कार करनेके लिये सबसे पहले आवश्यकता है श्रद्धा-की। श्रद्धाकी कमी होगी तो साधना भाव और प्रेमसे होगी ही नहीं और अध्यात्ममार्गमें उसका होना अनिवार्य है। इसके बाद साधनामें 'तत्परता' चाहिये। दो दिन करें और चार दिन न करें, इससे काम नहीं चलता। साधना तो सतत और आलस्य-प्रमादसे रहित होनी चाहिये और सबसे अधिक आवश्यक है 'इन्द्रियनिग्रह'। इन्द्रियोंका संयम न होगा तो जैसे छेदवाले घड़ेसे जल निकलता जाता है, इसी प्रकार साधनाका बल भी घटता चला जाता है। ये तीनों बातें होती हैं तो ज्ञान होता है और ज्ञान होते ही तत्काल शान्ति मिल जाती है। इसीका नाम है—ईश्वर-साक्षात्कार।

> हरिका मार्ग शूर-वीरोंका कायरका नहिं काम भाई।
> सबसे पहले मस्तक देकर पीछे लेना नाम भाई॥

भक्तकी रीति

> प्रीति राम सों नीति पथ चलिय राग रिस जीति।
> तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति॥
> —गोस्वामी [illegible]स

तुम मुझे देखा करो और मैं तुम्हें देखा करूँ

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

हमारा मन वहीं लगता है, जहाँ हमारी अभिलषित वस्तु होती है, जहाँ हमें अपनी रुचिके अनुकूल सुख, सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य आदि दिखायी देते हैं। विचार करके देखनेसे पता लगता है कि जगत्में हम जो प्रिय वस्तु, सुख, सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य आदि देखते हैं, उन सभीका पूर्ण अमित अनन्त भण्डार श्रीभगवान् हैं। समस्त वस्तुएँ, समस्त गुण, समस्त सुख-सौन्दर्य भगवान्के किसी एक अंशके प्रतिबिम्बमात्र हैं। उस महान् अनन्त अगाध सागरके सीकर-कणकी छायामात्र हैं। हमें जो वस्तु जितनी चाहिये, जब चाहिये, वही वस्तु उतनी ही और उसी समय भगवान्में मिल सकती है; क्योंकि वे सदा-सर्वदा उनमें अनन्तरूपसे भरी हैं और चाहे जितनी निकाल ली जानेपर भी कभी उनकी अनन्ततामें कमी नहीं आती। अतएव हमारा मन जिस किसीमें लगता हो, उसीको दृढ़ विश्वासके साथ भगवान्में देखना चाहिये। फिर हम कभी भगवान्से अलग नहीं होंगे और भगवान् हमसे अलग नहीं होंगे; क्योंकि सब कुछ भगवान्से, भगवान्में है तथा भगवत्स्वरूप ही है—भगवान्ने कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो मुझको सबमें देखता है और सबको मुझमें देखता है, उससे मैं अदृश्य नहीं होता और वह मुझसे अदृश्य नहीं होता। भाव यह कि वह मुझे देखता रहता है और मैं उसे देखता रहता हूँ।'

इसीके साथ हमें अपनेको ऐसा बनाना चाहिये जो भगवान्को अत्यन्त प्रिय हो। गीता बारहवें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक भगवान्ने अपने प्रिय भक्तके लक्षणोंका वर्णन किया है और अन्तमें कहा है—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(गीता १२। २०)

'जो मेरे परायण हुए श्रद्धालु भक्त ऊपर बताये हुए इस धर्ममय अमृतकी भलीभाँति उपासना करते हैं अर्थात् उस प्रकारका अपना जीवन बनानेमें तत्पर होते हैं, वे मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

इसलिये हमें अपनेमें उन सब भावोंकी दृढ़ स्थापना करनी चाहिये जो भगवान्को प्रिय हैं। ऐसा होनेपर जब भगवान् हमसे प्रेम करने लगेंगे, उनका मन हममें लगा रहेगा—(प्रेम तो वे अब भी करते हैं; परंतु हमें उसका अनुभव नहीं होता, उनके अनुकूल आचरण करनेसे अर्थात् उन सब प्रिय गुणोंको जीवनमें उतारनेसे हमें भगवान्के प्रेमका अनुभव होने लगेगा) तब हमारा मन भी उनमें लगा रहेगा। हमें तो बस, विनोदपूर्वक भगवान्से यही भाव रखना चाहिये और यही मन-ही-मन कहना चाहिये कि 'प्रभो! न तो मैं दूसरेको देखूँगा और न आपको देखने दूँगा।

आवहु मेरे नयननैं पलक बंद करि लेउँ।
ना मैं देखौं और कौं ना तोहि देखन देउँ॥
नारायन जाके हृदै सुंदर स्याम समाय।
[illegible]ल-पात-फल-डार मैं ताकौं वही दिखाय॥

विद्याका लक्ष्य और उसकी प्राप्तिके उपाय

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

कहते हैं कोई आधुनिक बहुविद्याविद् किसी नावसे कहीं जा रहा था । बीच नदीमें जानेपर उसने मल्लाहसे आकाशकी ओर देखकर पूछा—'अरे भाई ! तुम नक्षत्र-विद्या पढ़े हो या नहीं ?' केवटने कहा—'बाबूजी ! मैं तो उसका नाम भी नहीं जानता ।' इसपर तथाकथित बहुविद्याविद्ने कहा—'भइया ! तब तो तुम्हारा एक चौथाई जीवन व्यर्थ गया ।' फिर थोड़ी देर बाद उसने कहा—'अच्छा गणित जानते हो ?' केवट बोला—'नहीं बाबू ।' 'ओह ! तब तो तुम्हारा आधा जीवन ही व्यर्थ गया; और विज्ञान-शास्त्र ?' केवटने कहा—'बाबू ! मैं शासतर-बासतर क्या जानूँ ।' इसपर शिक्षाविद् बोला—'अरे ! तब तो तुम्हारा तीन चतुर्थांश जीवन ही चौपट हो गया ।' ये बातें हो ही रही थीं कि बड़े जोरोंकी आँधी आयी और नाव डगमगाने लगी । वैज्ञानिक बोला—'भइया ! अब क्या होगा ?' मल्लाहने कहा—'अब कोई चारा नहीं है—नाव डूबेगी, तुम तैरना जानते हो या नहीं ?' वैज्ञानिकने कहा—'नहीं भाई ! मैं तैरना तो नहीं जानता, फिर मेरा क्या होगा ?' मल्लाहने कहा—'बस, तब डूब मरो, तुम्हारे सम्पूर्ण जीवनकी जो सार्थकता थी, वह अब तुम्हारे सामने है । तुमने सारी विद्याएँ पढ़ीं, पर तैरना नहीं जाना, अब वह सब व्यर्थ हुआ । अब बस, भगवान्का नाम लो । तुमने संसारसागरसे पार ले जानेवाली भगवान्की आराधनारूपी विद्या नहीं सीखी, इसीलिये तुम्हारे सामने ऐसा अवसर उपस्थित हुआ । वही सच्ची विद्या है, उसे न पढ़कर जो केवल लौकिक, भौतिक, प्रापञ्चिक विद्याओंके पण्डित बनकर गर्व करते हैं, उन्हें तो एक दिन यों ही डूबना पड़ता है ।'

सचमुच एक दिन यही होना है । गोस्वामी तुलसीदासजीने बड़ा ही सुन्दर कहा है—

वह ज्ञान नहीं कुज्ञान है, जहाँ भगवत्प्रेम प्रधान न हो क्योंकि एक दिन निश्चय ही यही तमाशा उन ज्ञानियोंके भी सामने आनेको है—

'जोगु कुजोगु ग्यान अग्यानू । जहँ नहिं राम पेम परधानू ॥'
'सोह न राम पेम बिनु ग्यानू । करनधार बिनु जिमि जलजानू ॥'

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।'
(श्रीमद्भा० १ । ५ । १२)

हनुमान्जीने भी रावणको समझाते हुए कहा था, रावण ! एक दिन तुम भी समझोगे । पर अभी तुम घोर मद-मोहके पर्देकी आड़में हो, तुम्हारी आँखें बंद हैं, इसलिये कैसे सूझे ? भगवदीयताके बिना किसी भी विद्याकी शोभा नहीं, वाक्य, पद, शब्दतककी शोभा नहीं है, यह याद रख लो—

'राम नाम बिनु गिरा न सोहा । देखु बिचारि त्यागि मद मोहा ॥
बसन हीन नहिं सोह सुरारी । सब भूषन भूषित बर नारी ॥
भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ । राम नाम बिनु सोह न सोऊ ॥
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी । सोह न बसन बिना बर नारी ॥

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् ।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा
न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः ॥
श्रीमद्भा० १ । ५ । १०)

'तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् ।'
'तदेव सत्यं तदुहैव मङ्गलं
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम् ॥'
(श्रीमद्भा० १२ । १२ । ४९-४८)

श्रीचैतन्यने भगवन्नाम, भगवदीयवार्ताको 'विद्यावधू-का जीवन' कहा है—

'श्रेयः कैरवचन्द्रिका[illegible] विद्यावधूजीवनम् ।'

'विद्या धर्मेण शोभते' का भी भाव यही है। सत्तत्त्ववेत्ता, संतकुलकमलदिवाकर, मानसकारका तो यहाँतक कहना है कि साक्षात् शारदा भी भगवद्यशसे तृप्त, प्रसन्न तथा परम सुखी हो जाती हैं। जब कोई व्यक्ति काव्यरचनाकी सहायताके लिये उनका ध्यान करता है, तब वे दौड़कर ब्रह्मलोकसे आती हैं, उनकी वह थकान बिना रामचरित्रमानस-सरोवरमें स्नान किये मिटती नहीं। इतनेपर भी यदि वह व्यक्ति प्राकृत जनका गुणगान करता है या कोई अनाप-शनाप जड़वाद-का व्याख्यान करता है तो सरस्वती सिर धुन-धुनकर पछताने लगती हैं—

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥
राम चरित सर बिनु अन्हवाएँ। सो श्रम जाइ न कोटि उपाएँ॥
कबि कोबिद अस हृदयँ बिचारी। गावहिं हरि जस कलि मल हारी॥
कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना॥

भागवतकारने भगवन्नामयशरहित विद्याकी ठाँठ गाय, असती स्त्री, दुष्ट संतान तथा गुलामके देहसे तुलना की है, जिनसे केवल क्लेश ही होता है—सुख नहीं, और अन्तमें बतलाया है कि ऐसी विद्याको चतुर लोग कदापि नहीं ग्रहण करते—

गां दुग्धदोहामसतीं च भार्यां
देहं पराधीनमसत्प्रजां च।
वित्तं त्वतीर्थीकृतमङ्ग वाचं
हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी॥
यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म
स्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य।
लीलावतारेप्सितजन्म वा स्याद्
वन्ध्यां गिरं तां बिभृयान्न धीरः॥

(श्रीमद्भा० ११। ११। १९-२०)

वास्तवमें विद्याकी सफलता भगवत्सम्बन्धी ज्ञान तथा भगवत्प्राप्तिमें ही है। विद्या कोई खेलवाड़ या हँसी-मजाक नहीं है। वह दुस्साध्य होनेके साथ महत्त्वपूर्ण भी है। उसके द्वारा विश्वकी सर्वोपरि वस्तु अमरत्व तथा प्रभुकी प्राप्ति हो सकती है। 'विद्यया विन्दतेऽमृतम्'। भगवान्‌को प्राप्त कर लेनेपर भला क्या अवशेष रह जाता है। उनकी तनिक-सी प्रसन्नतासे विश्वकी दुर्लभ वस्तुएँ सुलभ हो जाती हैं—

'तस्मिंस्तुष्टे किमप्राप्यं जगतामीश्वरेश्वरे।'

ऐसी दशामें यह ठीक ही है कि विद्याकी प्राप्ति भी बड़ी क्लिष्ट साधनासे किंवा भगवत्कृपासे ही सम्भव है। तुलसीदासजीने बड़े रम्य ढंगसे लिखा है—शारदा (विद्याधिष्ठातृदेवी) तो कठपुतली-जैसी हैं, भगवान् जिसपर जन जानकर प्रसन्न हो गये, वे उसके हृदय-प्राङ्गणमें उन्हें नचा डालते हैं, भगवत्कृपासे विद्याका नृत्य भगवद्भक्तके हृदय-प्राङ्गणमें प्रारम्भ हो जाता है—

सारद दारुनारि सम स्वामी। रामु सूत्रधर अंतरजामी॥
जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥

यथा दारुमयी नारी नृत्यते कुहकेच्छया।
एवमीशेच्छया ब्राह्मी कवीन्द्रहृदयाङ्गणे॥

(पद्मपुराण)

भागवतके 'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' तथा—

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यतः
स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम्॥

(२। ४। २२)

—आदि श्लोकोंका भी यही भाव है। सच्ची बात तो यह है कि भगवत्कृपा तथा भगवत्प्रसादसे ही वास्तविक विद्याकी उपलब्धि सम्भव है, अन्य स्वतन्त्र साधनाओंसे नहीं। इस सम्बन्धमें भगवती लक्ष्मीकी बड़ी सुन्दर सूक्ति है। वे कहती हैं—'प्रभो! मुझे प्राप्त करनेके लिये इन्द्र, अज, ईश, सुर, असुर सभी उग्र-से-उग्र तप किया करते हैं; किंतु मुझे आपके पदकमलमें अनुरक्त प्राणीको छोड़कर कोई भी प्राप्त नहीं कर पाता, क्योंकि मैं आपकी चेरी हूँ, आपके हृदयमें जो हूँ'[1],—

१. वस्तुतः लक्ष्मी, सरस्वती या सभी देवताओं तथा समस्त सद्गुणोंको प्राप्त करनेका उपाय भी भगवत्पादावलम्बन ही है—

मत्प्राप्तयेऽजेशसुरासुरादय-
स्तप्यन्त उग्रं तप ऐन्द्रियेधियः।
ऋते भवत्पादपरायणान्न मां
विन्दन्त्यहं त्वद् धृदया यतोऽजित॥
(श्रीमद्भा० ५। १८। २२)

महर्षि वाल्मीकि, शुकदेव, आचार्य शंकर, कवि-कुलतिलक कालिदास, तुलसीदासजी आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इनकी दिव्य प्रतिभा तथा लोकोत्तर विद्या भगवान्‌की भास्वती भगवती अनुकम्पाकी ही प्रसूति है। इन्हें हमें साधारण नहीं समझना चाहिये। इनकी वाणीमें लेशमात्रका आडम्बर नहीं, अपितु शुद्ध सच्चिदानन्दमय तत्त्व है। इसे सरल हृदयसे ध्यान कर जाना जा सकता है। पर यह सौभाग्य किसी मात्सर्यग्रस्त, मोहान्ध अविद्याच्छन्न जीवको होना दुर्घट है। वाल्मीकि दस्युका कार्य करते थे, विद्याके पूरे शत्रु थे। पर 'मरा मरा'का (रामका उल्टा) अनन्त कालतक जप करनेपर भगवत्कृपासे उनके हृदयमें साक्षात् दिव्य तेजोमयी सरस्वती प्रवृत्त हुई और उन्होंने आदिकाव्यकी रचना कर डाली।

'मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती'
(वाल्मी० १। २। ३१)

वैसी ही शुकदेवजीकी भी समाधि-भाषा निरुपम है। वह काव्य-रचना तथा उच्चतम पवित्र भाव क्षण-भरके लिये सच्चिदानन्दलक्षण परमतत्त्वकी झाँकी करानेकी क्षमता रखता ही है। उस संतवाणीमें वह शक्ति है कि निर्विकार हृदयको आनन्दान्दोलित कर धन्य-धन्य बना देती है, उसमें एक विचित्र भगवद्भाव भर देती है। आजका पण्डितम्मन्य, दुस्तर अविवेक कलंक-पंक-मग्न प्राणी भले ही तुलसीको गालियाँ दिया करे और उनकी लाख तिरस्क्रिया या अवहेलना करे, पर है कोई आजका डिप्लोमाधारी माईका लाल जो एक भी मानस-सा ग्रन्थ-रत्न दे सके। आज प्रेसके कूड़ेखानेमें लाखों टन कागज संसार छापता है, पर कौन-सा नया ग्रन्थरत्न मानसकी जोड़ीका प्रकट हुआ है? हो कैसे? वह भगवत्कृपाका प्रतीक जो ठहरा। स्वयं कवि ही निश्छल (ढोंग नहीं सच्चे) भावसे बोल रहा है—

'श्रीगुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती॥
दलन मोह तम सो सप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू॥
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥
सूझहिं राम चरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥
'जस कछु बुधि बिबेक बल मेरें। तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरें॥'
'मैं यह पावन चरित सुहावा। रघुपति कृपा जथामति गावा॥'

वस्तुतः तुलसीकी एक-एक पंक्ति, एक-एक भावपर सारे जड संसारको न्योछावर किया जा सकता है। रीझनेके लिये आज हम भले जडविज्ञानपर रीझकर बलिदान हो जायँ, पर इससे हमें जडताके अतिरिक्त दूसरी वस्तु हाथ न लगेगी।* सुखके रूपमें बेचैनी, अशान्ति तथा निरवच्छिन्न पाप-ताप ही प्राप्त होंगे। वहाँ विद्याकी भ्रान्ति मृगमरीचिकावत् ही है। हमें यह आज भले न समझ आये पर थोड़ी और महर्घता बढ़ जानेपर, थोड़े और अधिक टैक्स लग जानेपर, थोड़ी और अधिक डकैती आदि दुष्काण्डों एवं अनाचारोंके बढ़ जानेपर या अणु हाइड्रोजन बमोंके फूट पड़नेपर पता लग ही जायगा। भगवान् ही बचायें इस महामोहमय अन्धाधुन्ध आकर्षणसे। भगवान् ही पार लगायें इस विद्या-सी प्रतीत होनेवाली घोर अविद्याके दुस्तर अपार वारिधिसे।

---

* यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः। हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः॥
(श्रीमद्भा० ५। १८। १२)

धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः। एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम्॥ (श्रीमद्भा० ४। ८। ४१)

एकै साधे सब सधै सब साधे सब जाय। रहिमन मूलहिं सींचिये फूलै फलै अघाय॥

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर-हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । समाचार विदित हुए । उत्तर इस प्रकार है—

(१) भगवत्प्राप्तिका मार्ग अनादिकालसे हृदयस्थ शङ्काओंको मिटानेके लिये ही अपनाया जाता है। अतः छिपी हुई शङ्काएँ सामने आती रहती हैं और समाधान होनेपर शान्त हो जाती हैं। इस दृष्टिसे शङ्काओंका होना लाभप्रद है, पर जो स्वयं तो विवेकद्वारा समझता नहीं और समझानेवालेपर श्रद्धा नहीं करता, उसके लिये शङ्का हानिकर हो जाती है। जबतक भगवान्‌का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तबतक शङ्काओंका समूल नाश नहीं होता ।

(२) गायत्रीमन्त्रका जप सायंकाल बैठकर और प्रातःकाल खड़े होकर भी किया जा सकता है। जिस प्रकार जापक अधिक समयतक सुखपूर्वक स्थिर रह सके और जिस प्रकार करनेपर उसका मन स्थिर हो सके, वही उसके लिये श्रेष्ठ है । सबके लिये किसी एक ही प्रकारको ठीक बताना मुझे ठीक नहीं जँचता।

(३) जिसका इष्ट गायत्री है, उसे जप उसी प्रकार करना चाहिये, जिस प्रकार उसका मन अधिक-से-अधिक प्रसन्नतापूर्वक जपमें लगा रहे ।

(४) जप करते समय ध्यान उसका करना चाहिये, जो साधकका इष्ट हो, जिसको वह सर्वोत्तम, सर्वशक्तिमान् मानता हो, जिससे बढ़कर किसी अन्यको न मानता हो । स्वरूपके विषयमें यह बात है कि जो स्वरूप उसके प्रेम और आकर्षणको बढ़ानेवाला हो, जिसके ध्यानमें उसका मन अनायास लगता हो, जिसपर उसका दृढ़ विश्वास हो, जिस स्वरूपका ध्यान वह कर सकता हो ।

(५) जपके विषयमें शास्त्रोंका कथन है कि वाणीद्वारा किये जानेवाले जपकी अपेक्षा उपांशु दसगुना श्रेष्ठ है और उससे भी मानस दसगुना श्रेष्ठ है । पर यह साधारण नियम हो सकता है । वास्तवमें जो जिसका अधिकारी है, उसके लिये वही अधिक श्रेष्ठ है ।

यदि वाणीद्वारा जप करनेसे उसमें मन लगता हो, रुचि बढ़ती हो, करनेमें सुगमता प्रतीत होती हो एवं मानसिक जप करते समय जपमें भूल होती हो, मनमें दूसरे संकल्प अधिक उठते हों, उत्साह और प्रीति न बढ़ती हो, मनमें उकताहट या आलस्य आता हो तो उसके लिये वाणीसे जप करना अच्छा है ।

ध्यानके लिये स्थान हृदयाकाश उत्तम माना जाता है । इसमें भी साधकको अपनी रुचि, प्रीति, श्रद्धा और योग्यतापर विचार करके ही निर्णय करना चाहिये ।

(६) गायत्रीपुरश्चरणके विषयमें मेरी अधिक जानकारी नहीं है । मैंने इसका विधिवत् अनुष्ठान कभी नहीं किया । अतः आप इसके विषयमें किसी विशेषज्ञसे पूछें तो अच्छा होगा ।

(७) मनको वशमें करनेके उपाय भगवान्‌ने दो बताये हैं—एक अभ्यास, दूसरा वैराग्य । केवल अभ्याससे मन वशमें नहीं होता, क्योंकि वैराग्यकी प्रधानता है (गीता-तत्त्वविवेचनी अध्याय ६ के २५-२६ वें और ३५-३६ वें श्लोक देखें) ।

(८) त्यागने योग्य संकल्प वही है, जो व्यर्थ हो, जिसमें किसीकी अहितकी भावना हो, जो भोगकामना तथा पापसे युक्त हो । आसक्तिपूर्वक होनेवाली सांसारिक स्मृतिको संकल्प कहते हैं ।

(९) 'सत्यम्' परमेश्वर सत्य है, 'शिवम्' वह

कल्याणमय है, 'सुन्दरम्' वह सब प्रकारसे सुखप्रद और आनन्दस्वरूप है । यह तीनोंका शब्दार्थ है । तीनों ही भगवान्‌के नाम हैं, अतः जब जिस मौकेपर आवश्यक हो, बोले जा सकते हैं ।

(१०) 'ॐ' यह भगवान् परब्रह्म परमेश्वरका नाम है । इसके द्वारा परमेश्वरकी ही उपासना, स्मरण और ध्यान किया जाता है । नाम और नामीकी एकता है । इस दृष्टिसे नामको भी अक्षरब्रह्म कहा जाता है और प्रभुके स्वरूपकी ही भाँति उनके नामका भी ध्यान किया जा सकता है । ॐकार भगवान्‌के निर्गुण और सगुण दोनों ही रूपोंका वाचक है । अतः दोनों ही प्रकारके उपासक इसके द्वारा उपासना कर सकते हैं ।

(११) रामचरितमानसके पाठमें सम्पुट उस चौपाईका लगाया जाता है, जिसमें पाठककी कामना स्पष्ट व्यक्त होती हो । यदि सकाम न हो तो उसका लगाया जाता है, जो साधकको अधिक प्रिय हो, जिसके बार-बार बोलनेमें उसको अधिक प्रेम उमड़ता हो या भावकी जागृति होती हो और भगवान्‌की स्मृति होती हो । सम्पुट लगाये जानेसे वह कार्य सिद्ध होता है या नहीं, यह तो पाठककी श्रद्धा या प्रीतिपर तथा फलदाता ईश्वरकी इच्छापर निर्भर है ।

(१२) गीता और रामायणका कितना पाठ करना चाहिये, इसकी सीमा नहीं होती । पाठ करनेवाला जितना कर सके, जहाँतक उसको कोई अड़चन या थकावटका अनुभव न हो, उत्साहमें कमी न आवे, भाव बढ़ता रहे, वहाँतक अवकाशके अनुसार करते रहना अच्छा है ।

(१३) पितर चाहे जिस योनिमें गया हो, उसके निमित्तसे किया हुआ श्राद्ध आदि पुण्यका फल उसे हरेक योनिमें समयपर मिलता रहता है । जैसे पुरुषको अपने किये हुए कर्मोंका फल मिलता है, उसी प्रकार उसके निमित्त दूसरोंके द्वारा दिये जानेपर भी उसे मिलता है । जैसे बैंकमें कोई भी चाहे जिसके नामपर रुपया जमा कर सकता है, पर वापस नहीं ले सकता ।

(१४) ब्राह्ममुहूर्त सूर्योदयसे तीन घंटे पहलेका समय माना गया है । गायत्रीमन्त्रका जप वैसे तो जब भी पवित्र होकर किया जाय तभी अच्छा है । पर सूर्योदयसे पहलेका समय अधिक उत्तम है, क्योंकि उस समय चित्त शान्त रहता है ।

(१५) आत्माको पहचाननेका तरीका है—नित्य और अनित्यका विवेचन और समझमें आयी हुई बातपर दृढ़ विश्वास ।

(२)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण । आपका पोस्टकार्ड मिला । समाचार मालूम हुए । आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

(१) भगवान् सब कुछ कर सकते हैं । यदि ऐसा न हो तो उनकी भगवत्ता ही कैसी ? प्रभुकी कृपासे जो काम होता है उसमें भी कारण तो भगवान् ही हैं । अतः उनकी कृपासे होना और उनके द्वारा किया जाना दो बात नहीं है । पर भगवान् ऐसा कब और क्यों करते हैं यह दूसरा कोई नहीं बता सकता । अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार सब कहते हैं पर असली कारण और रहस्य भगवान् स्वयं ही जानते हैं ।

(२) प्रारब्धका भोग अमिट अवश्य है, पर वहींतक अमिट है, जहाँतक मनुष्यकी सामर्थ्यका विषय है । प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं, उनके लिये कोई काम असम्भव नहीं कहा जा सकता । वे असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं । भगवान्‌ने जो यह कहा है कि—

'कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू । आए सरन तजौं नहिं ताहू ॥'

यह उनके अनुरूप ही है, क्योंकि आप शरणागतवत्सल ठहरे। अतः तुलसीदासजीका लिखना सर्वथा ठीक है।

(३) प्रह्लादकी रक्षामें उसका प्रारब्ध कारण नहीं है, उसमें तो एकमात्र भगवान्की उस महती कृपाका ही महत्त्व है, जो कि अडिग निष्ठा और विश्वासके कारण कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार अपना प्रभाव प्रत्यक्ष प्रकट करती है।

(४) भगवान्का भक्त भगवान्से किसी भी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थितिके लिये याचना करे तो भी भगवान् नाराज नहीं होते। यदि उचित समझते हैं तो उसकी कामनाको पूरी भी कर देते हैं। पर जो भगवान्के प्रेमी भक्त हैं, जिनका एकमात्र प्रभुमें ही प्रेम है, उनके मनमें कामनाका संकल्प ही नहीं उठता। उनके विचारमें जगत्की कोई भी वस्तु या परिस्थिति आवश्यक ही नहीं रहती। वे तो जो कुछ करते हैं भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही करते हैं और जो कुछ होता है उसे भगवान्की अहैतुकी कृपा मानते हैं; इसलिये उनके लिये कामना या याचनाका कोई प्रश्न ही नहीं रहता।

दण्डकवनके ऋषि-मुनि और अन्य संत; जो दानवी और भौतिक शक्तिसे मारे गये, उनकी रक्षा करनेमें भगवान्की कृपाशक्ति असमर्थ थी, ऐसी बात नहीं है; उनके शरीरोंका नाश उस प्रकार कराना ही भगवान्को अभीष्ट था, इसलिये रक्षा नहीं की। जिनकी रक्षा करना आवश्यक था, उनकी रक्षा कर ली। भगवान्की कृपा कौन-सा काम क्यों करती है और क्यों नहीं करती, इसका अनुमान मनुष्य कैसे करे ?

(५) भौतिक या आसुरी शक्तियोंको परास्त करनेका सर्वोत्तम उपाय निष्काम सेवायुक्त जीवन है। जिसको इस भौतिक जगतसे कुछ लेना नहीं है, केवल भगवान्के नाते उनके आज्ञानुसार उन्हींकी कृपासे मिली हुई शक्तिसे जगत्की सेवा-ही-सेवा करना है, वह समस्त भौतिक और आसुरी शक्तियोंको अनायास परास्त कर सकता है। प्रह्लाद भी भगवान्का निष्कामी और परम विश्वासी एकनिष्ठ भक्त था। ऐसे भक्तसे भगवान् स्वयं मिलते हैं, छिप नहीं सकते।

(३)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण ! आपने अपने मनकी गतिका अध्ययन किया यह तो अच्छी बात है, पर अध्ययनका परिणाम ऐसा निकलना चाहिये, जिससे अपनी जानकारीके अनुसार जीवन बने और मान्यताके अनुसार आचरण हो।

धार्मिक पुस्तकोंका पढ़ना कोई बुरी बात नहीं है, पर वह व्यसनके रूपमें न होकर उनके द्वारा समझी हुई बातोंको काममें लानेके लिये ही हो, यही उत्तम है। कालेजकी पढ़ाई, यदि उसे पिताका आदेश मानकर भगवान्की प्रसन्नताके लिये कर्तव्यपालनके रूपमें की जाय, तो वह भी साधन ही है; क्योंकि आप अपनेको विद्यार्थी मानते हैं तो मान्यताके अनुकूल आचार-व्यवहार भी होना ही चाहिये।

गीताजीका यह श्लोक—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ..................॥

—बहुत ही उत्तम है। आप यदि एकमात्र प्रभुका ही चिन्तन करना चाहते हैं तो बड़ी अच्छी बात है; ऐसा तो करना ही चाहिये। जिसके मनमें यह चाह वास्तवमें जाग्रत् हो जाती है, उसके मनमेंसे अन्य सब प्रकारकी इच्छाओंका अन्त हो जाता है, फिर उसका मन चञ्चल कैसे रह सकता है। अतः आपको चाहिये कि आप इस चाहको प्रबल और दृढ़ बनावें। इसका उपाय एकमात्र भगवद्विश्वास और भगवान्के नित्य सम्बन्धका अनुभव है। प्रेम होनेपर निरन्तर स्मरण हो सकता है।

आपका लक्ष्य यदि भगवत्प्राप्ति है तो बहुत ही उत्तम है। लक्ष्यपूर्तिसे कभी निराश नहीं होना चाहिये। प्राप्त

सामर्थ्यका विवेकके प्रकाशमें लक्ष्यपूर्तिके लिये उपयोग करते रहना चाहिये। भोगवासनासे रहित होनेपर ही लक्ष्यकी पूर्ति शीघ्र हो सकती है।

विद्यार्थियोंके पालन करनेयोग्य नियम मैंने सम्भवतः पहले लिखे हैं। तत्त्वचिन्तामणिमें उनको देखना चाहिये।

लड़कोंके साथ लड़कियोंका कालेजमें पढ़ना मेरी समझसे सदाचारके लिये बड़ा ही घातक है। लड़कियों-को लड़कोंके साथ पढ़ते समय कैसे रहना चाहिये यह तो तब बताया जाय जब कि उनका कार्य किसी भी अंशमें आवश्यक और उचित समझमें आवे।

आपने लिखा कि प्रभुकी अनन्त कृपाका आभास मुझे अनेक रूपसे हो रहा है, जहाँ देखता हूँ, वहाँ प्रभुकी कृपाके ही दर्शन अधिकांशमें होते हैं—सो ऐसा होना बहुत ही उत्तम है। पर जिस साधकको प्रभुकी कृपाका इस प्रकार दर्शन होने लगता है वह उनके प्रेममें डूब जाया करता है। उसका हृदय कृतज्ञतासे भर जाता है, अतः उसमें प्रेमकी गङ्गा लहराने लगती है। वह भला प्रभुको कैसे भूल सकता है?

(४)

सादर हरिस्मरण!

आपका पोस्टकार्ड मिला, समाचार मालूम हुए। उत्तर इस प्रकार है—

आप चिकित्साकार्य वृत्तिके लिये करते हैं तो इसमें कोई दोषकी बात नहीं है। आप वृत्तिके लिये करते हुए भी अपने कामसे जगत्-जनार्दनकी सेवा कर सकते हैं। जीविकाके लिये दूसरा काम खोजनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। मेरी समझमें तो आप जो कुछ करते हैं और कर सकते हैं, जो काम करनेकी आपमें योग्यता है, वह सभी सेवा बन जाय—यही ठीक होगा। जीवन-निर्वाह तथा बाल-बच्चोंका भरण-पोषण भी तो प्रकारान्तरसे सेवा ही है। अपने शरीर और बाल-बच्चों-को यदि आप अपने न मानकर उस प्रभुके ही समझें और सबकी सेवाके साथ उनकी सेवाको मिला दें तो क्या सब-का-सब काम सेवा नहीं बन जायगा?

मेरी समझमें आपको साझेदारीके झंझटमें नहीं पड़ना चाहिये। दूसरेकी मेहनतसे होनेवाली कमाई चाहे वह कितनी ही अच्छी हो, आपके लिये हितकर नहीं होगी; क्योंकि आपको उसके अधीन बना देगी।

(५)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार मालूम हुए। आपने करीब डेढ़ सालसे भगवान्‌के दर्शनोंकी इच्छासे साधन आरम्भ कर दिया यह बड़े ही सौभाग्यकी बात है। आपने अपने साधनका प्रकार लिखा और उसपर मेरी सम्मति माँगी, उसका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

(१) भगवान् रामचन्द्रजीके चित्रपटको सामने रखकर उनके मुखारविन्दपर दृष्टि जमानेकी बात मालूम हुई। पर इसमें इतना सुधार आवश्यक है कि आपको सामने रक्खे हुए जड चित्रका ध्यान नहीं करना है। वह चित्र जिनका है उनका ध्यान करना है। चित्रपट तो केवल उनकी आकृति समझानेका ही काम कर सकता है। जैसे आपके एक प्रिय मित्रका चित्र देखनेसे आपको वह याद आने लग जाता है और उसका वास्तविक ध्यान होने लगता है वैसे ही होना चाहिये। चित्रपट ही भगवान् नहीं है, पर वह जिसका है वह भगवान् है।

ध्यान करते हुए मानसिक पूजन करते हैं यह भी ठीक है तथा उसके बाद 'हरे राम' मन्त्रका जप करते हैं वह भी ठीक है। जप करते समय बीचमें दूसरे संकल्प न उठें तो और भी अच्छा हो।

जपके समय जीभ और होठ चलते रहें तो कोई बुराई नहीं है।

'जै सियाराम' का कीर्तन करना भी अच्छा ही है। भगवान्‌के चित्रके सामने धूप-दीप करना भी ठीक ही है।

श्रीरामचन्द्रजीका ध्यान करते समय और दृष्टि जमाते समय जोर-ज़ोरसे हरे राम मन्त्रका भजन करते रहनेपर ध्यान स्थित होनेमें विघ्न पड़ता होगा; इसपर फिरसे विचार करना चाहिये।

कोलाहल, बोलचालकी आवाज जहाँ न आती हो वैसे एकान्त स्थानमें बैठकर ध्यानका साधन करना अच्छा रहेगा। कोलाहलसे बचनेका उपाय जोरसे भजन करना कैसे हो सकता है? क्योंकि उसकी तरफ मन जायगा तो ध्यानमें विघ्न पड़ेगा ही।

नेत्र बंद करके भगवान्‌के मस्तकपर मन्त्र लिखा हुआ मानकर मनसे जप करना ध्यानके प्रतिकूल नहीं पड़ेगा, ऐसी मेरी मान्यता है।

ध्यानका साधन समाप्त करनेके बाद कीर्तन करना साधनके विपरीत नहीं है, पर कीर्तनके साथ-साथ जिसके नामका कीर्तन किया जाता है, उस प्रभुकी स्मृति भी रहे तो और भी अच्छा है।

आँखें खोलकर दृष्टि जमानेका साधन करते समय और आँखें बंद करके ध्यान करते समय भी मनसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌का स्मरण करते रहना चाहिये। ऐसा होगा तो मनको विषयोंकी ओर जानेका समय ही नहीं मिलेगा।

कान बंद करके अंदरकी आवाज़में भगवान्‌के नामकी ध्वनि सुननेका साधन भी बड़ा उत्तम है। इसमें हानिकी कोई बात नहीं है। दूसरे साधनोंके साथ इसे भी किया जा सकता है। यह साधन रात्रिमें और भी सुगमतासे किया जा सकता है, क्योंकि उस समय हल्ला-गुल्ला कम होकर शान्त वातावरण हो जाता है।

दृष्टि जमानेका और आँख मूँदकर ध्यान करनेका परिणाम तो मनकी स्थिरता और शुद्धि, बुरे संकल्पोंका नाश और शान्ति इत्यादि हुआ करते हैं। भगवान्‌में प्रेम बढ़ाना ही असली फल है।

भगवान्‌को गुरु मानकर चलना बहुत ही उत्तम है।

(६)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार मालूम हुए। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) राम सबके अन्तर्यामी हैं। जैसे नट बंदरको नचाता है वैसे ही वे सबको नचाते हैं और कठपुतलीकी भाँति नचाते हैं। यह सभी बातें ठीक हैं, पर राम जो उनको नचाते हैं वह उनके पूर्वकर्मके संस्कारके अनुसार ही नचाते हैं, जैसे कठपुतलीको नचानेवाला भी एक विधान सामने रखकर ही उनको नचाता है नहीं तो उसका खेल ही बिगड़ जाय।

जीवको विधि-निषेधका बन्धन तो उसी हालतमें है जब वह स्वयं कर्ता बनकर अपने सुखभोगके लिये कामनासे प्रेरित होकर कर्म करता है। पूर्वकृत कर्मोंके परिणामस्वरूप जो क्रिया उसके द्वारा अपने आप होती है उसमें विधि-निषेधका उपभोग नहीं है। उसी प्रकार जो उसके कर्मानुसार फल मिलता है उसमें भी उसे कुछ नहीं करना है। पर भगवान्‌ने जो उसे कर्म करनेकी सामर्थ्य, सामग्री और विवेक दिया है उसका भगवान्‌के विधानानुसार ठीक-ठीक उपयोग कर देना उसका काम है, यही विधि है। उसका दुरुपयोग करना ही निषिद्ध है।

(२) मनुष्यका शरीर भगवान् इस प्राणीको बिना ही कारण दया करके देते हैं। इसमें मनुष्य उस प्रभुको प्राप्त कर सकता है, पर वह प्राप्त विवेकका आदर न करके यदि विधानके विपरीत चले तो भगवान् उसे बलपूर्वक नहीं रोकते, क्योंकि यह स्वतन्त्रता भगवान्‌की दी हुई है। वे अपने विधानका उल्लङ्घन क्यों करें। अतः जीवकी इच्छा ईश्वरेच्छासे बलवती सिद्ध नहीं हुई; क्योंकि उसे किये हुए कर्मका फल उसके इच्छानुसार

नहीं मिलता, ईश्वरीय विधानके अनुसार ही उसे फल भोगना पड़ता है ।

(३) वर्तमान जन्ममें फलभोगके अनन्तर भविष्य-में होनेवाले जन्मोंके विषयमें भगवान्‌ने मनुष्यके लिये यह छूट दे रखी है कि वह इस जन्ममें चाहे तो समस्त कर्मबन्धनको काटकर मुझे प्राप्त कर सकता है अथवा जैसा चाहे अपना निर्माण कर सकता है। इसलिये वे मनुष्यके भविष्यका निर्माण पहलेसे नहीं करते, अतः उनकी जानकारी भी यही है कि इसका भविष्य पीछेसे रचा जायगा । अतः उनके ज्ञानमें कोई त्रुटि नहीं है, उनके किये हुए विधानके अनुसार ही सब काम होते हैं ।

(४) ऐसे मनुष्य भी बहुत हैं जो किसीके कहनेपर भूत-प्रेतकी बात नहीं मानते और ऐसे भी हैं जो शास्त्र और महापुरुषोंकी बात मानकर भगवान्‌को सर्वव्यापी मानते हैं । इस दुनियामें सभी तरहके प्राणी हैं, मान्यताके लिये सब स्वतन्त्र हैं । अतः कोई ऐसा क्यों मानता है और ऐसा क्यों नहीं मानता, यह प्रश्न नहीं बनता ।

(५) जिस प्रकार पूर्वजन्मोंमें किये हुए कर्मोंके अनुसार फल भोगनेके लिये प्रारब्ध बनता है, उसी प्रकार वर्तमानमें किये हुए नये कर्मोंका प्रारब्ध भी तत्काल बन सकता है; क्योंकि किस कर्मका फल कब दिया जाय, यह फलदाताकी इच्छापर निर्भर है । माता-पिता आदिका जो कर्त्तव्य बताया गया है, उस विधानके अनुसार ही उनको अपना कर्त्तव्य-पालन करना चाहिये । उनको जो दोष या पाप लगता है, वह तो विधानका उल्लङ्घन करनेके कारण लगता है । विवाह किसके साथ हुआ, लड़कीको सुख हुआ या दुःख, इस कारणसे पिताको पाप नहीं लगता; क्योंकि वे यदि शास्त्र-आज्ञानुसार ठीक सोच-समझकर विवाह करते हैं, उसपर भी यदि सम्बन्ध प्रतिकूल हो जाता है तो उनको पाप नहीं लगता ।

(६) राग-द्वेषसे मुक्त होनेका उपाय पूछा सो कुछ उपाय नीचे लिखे जाते हैं—

(क) अपने अधिकारका त्याग और कर्तव्यका पालन करना ।

(ख) दूसरेके दोषोंको नहीं देखना, अपनी भूलों-को देखना और उनको पुनः न करनेकी दृढ़ धारणा करना ।

(ग) अपने सुख-दुःखका कारण किसी दूसरे व्यक्ति, पदार्थ या परिस्थितिको न मानना।

(घ) किसी भी व्यक्ति या देवता आदिसे अपने सुखभोगके लिये किसी प्रकारकी चाह न करना ।

(ङ) भगवान्‌के दिये हुए विवेकका आदर करना ।

(च) प्राप्त बल, बुद्धि और वस्तुओंका अपनी जानकारीके प्रकाशमें ठीक-ठीक उपयोग करना ।

इसी प्रकार और भी अनेक उपाय हो सकते हैं, पत्रमें कहाँतक लिखा जाय ?

(७) रीति-रिवाजको धर्म नहीं माना जा सकता; क्योंकि रीति-रिवाज बहुत कारणोंसे प्रचलित होते रहते हैं और बदलते भी रहते हैं । हाँ, कुछ रीति-रिवाज धर्मानुकूल भी होते हैं; अतः अच्छे रीति-रिवाज जो शास्त्रानुकूल हो, वह तो धर्मका ही अङ्ग है; पर शास्त्रविरुद्ध रीति-रिवाज धर्म नहीं, अधर्म है ।

सामान्य धर्म तो सभी मनुष्योंके लिये एक-सा होता है और विशेष धर्म वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और भावके अनुसार विभिन्न भी होता है । जैसे माताका धर्म, स्त्री-का धर्म, पुत्रका धर्म, पिताका धर्म, पतिका धर्म, ब्राह्मणका धर्म, क्षत्रियका धर्म, बालकका धर्म, बूढ़ेका

'जै सियाराम' का कीर्तन करना भी अच्छा ही है। भगवान्‌के चित्रके सामने धूप-दीप करना भी ठीक ही है।

श्रीरामचन्द्रजीका ध्यान करते समय और दृष्टि जमाते समय जोर-जोरसे हरे राम मन्त्रका भजन करते रहनेपर ध्यान स्थित होनेमें विघ्न पड़ता होगा; इसपर फिरसे विचार करना चाहिये।

कोलाहल, बोलचालकी आवाज जहाँ न आती हो वैसे एकान्त स्थानमें बैठकर ध्यानका साधन करना अच्छा रहेगा। कोलाहलसे बचनेका उपाय जोरसे भजन करना कैसे हो सकता है? क्योंकि उसकी तरफ मन जायगा तो ध्यानमें विघ्न पड़ेगा ही।

नेत्र बंद करके भगवान्‌के मस्तकपर मन्त्र लिखा हुआ मानकर मनसे जप करना ध्यानके प्रतिकूल नहीं पड़ेगा, ऐसी मेरी मान्यता है।

ध्यानका साधन समाप्त करनेके बाद कीर्तन करना साधनके विपरीत नहीं है, पर कीर्तनके साथ-साथ जिसके नामका कीर्तन किया जाता है, उस प्रभुकी स्मृति भी रहे तो और भी अच्छा है।

आँखें खोलकर दृष्टि जमानेका साधन करते समय और आँखें बंद करके ध्यान करते समय भी मनसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌का स्मरण करते रहना चाहिये। ऐसा होगा तो मनको विषयोंकी ओर जानेका समय ही नहीं मिलेगा।

कान बंद करके अंदरकी आवाजमें भगवान्‌के नामकी ध्वनि सुननेका साधन भी बड़ा उत्तम है। इसमें हानिकी कोई बात नहीं है। दूसरे साधनोंके साथ इसे भी किया जा सकता है। यह साधन रात्रिमें और भी सुगमतासे किया जा सकता है, क्योंकि उस समय हल्ला-गुल्ला कम होकर शान्त वातावरण हो जाता है।

दृष्टि जमानेका और आँख मूँदकर ध्यान करनेका परिणाम तो मनकी स्थिरता और शुद्धि, बुरे संकल्पोंका नाश और शान्ति इत्यादि हुआ करते हैं। भगवान्‌में प्रेम बढ़ाना ही असली फल है।

भगवान्‌को गुरु मानकर चलना बहुत ही उत्तम है।

(६)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार मालूम हुए। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) राम सबके अन्तर्यामी हैं। जैसे नट बंदरको नचाता है वैसे ही वे सबको नचाते हैं और कठपुतलीकी भाँति नचाते हैं। यह सभी बातें ठीक हैं, पर राम जो उनको नचाते हैं वह उनके पूर्वकर्मके संस्कारके अनुसार ही नचाते हैं, जैसे कठपुतलीको नचानेवाला भी एक विधान सामने रखकर ही उनको नचाता है नहीं तो उसका खेल ही बिगड़ जाय।

जीवको विधि-निषेधका बन्धन तो उसी हालतमें है जब वह स्वयं कर्ता बनकर अपने सुखभोगके लिये कामनासे प्रेरित होकर कर्म करता है। पूर्वकृत कर्मोंके परिणामस्वरूप जो क्रिया उसके द्वारा अपने आप होती है उसमें विधि-निषेधका उपभोग नहीं है। उसी प्रकार जो उसके कर्मानुसार फल मिलता है उसमें भी उसे कुछ नहीं करना है। पर भगवान्‌ने जो उसे कर्म करनेकी सामर्थ्य, सामग्री और विवेक दिया है उसका भगवान्‌के विधानानुसार ठीक-ठीक उपयोग कर देना उसका काम है, यही विधि है। उसका दुरुपयोग करना ही निषिद्ध है।

(२) मनुष्यका शरीर भगवान् इस प्राणीको बिना ही कारण दया करके देते हैं। इसमें मनुष्य उस प्रभुको प्राप्त कर सकता है, पर वह प्राप्त विवेकका आदर न करके यदि विधानके विपरीत चले तो भगवान् उसे बलपूर्वक नहीं रोकते, क्योंकि यह स्वतन्त्रता भगवान्‌की दी हुई है। वे अपने विधानका उल्लङ्घन क्यों करें। अतः जीवकी इच्छा ईश्वरेच्छासे बलवती सिद्ध नहीं हुई; क्योंकि उसे किये हुए कर्मका फल उसके इच्छानुसार

नहीं मिलता, ईश्वरीय विधानके अनुसार ही उसे फल भोगना पड़ता है।

(३) वर्तमान जन्ममें फलभोगके अनन्तर भविष्य-में होनेवाले जन्मोंके विषयमें भगवान्‌ने मनुष्यके लिये यह छूट दे रखी है कि वह इस जन्ममें चाहे तो समस्त कर्मबन्धनको काटकर मुझे प्राप्त कर सकता है अथवा जैसा चाहे अपना निर्माण कर सकता है। इसलिये वे मनुष्यके भविष्यका निर्माण पहलेसे नहीं करते, अतः उनकी जानकारी भी यही है कि इसका भविष्य पीछेसे रचा जायगा। अतः उनके ज्ञानमें कोई त्रुटि नहीं है, उनके किये हुए विधानके अनुसार ही सब काम होते हैं।

(४) ऐसे मनुष्य भी बहुत हैं जो किसीके कहनेपर भूत-प्रेतकी बात नहीं मानते और ऐसे भी हैं जो शास्त्र और महापुरुषोंकी बात मानकर भगवान्‌को सर्वव्यापी मानते हैं। इस दुनियामें सभी तरहके प्राणी हैं, मान्यताके लिये सब स्वतन्त्र हैं। अतः कोई ऐसा क्यों मानता है और ऐसा क्यों नहीं मानता, यह प्रश्न नहीं बनता।

(५) जिस प्रकार पूर्वजन्मोंमें किये हुए कर्मोंके अनुसार फल भोगनेके लिये प्रारब्ध बनता है, उसी प्रकार वर्तमानमें किये हुए नये कर्मोंका प्रारब्ध भी तत्काल बन सकता है; क्योंकि किस कर्मका फल कब दिया जाय, यह फलदाताकी इच्छापर निर्भर है। माता-पिता आदिका जो कर्त्तव्य बताया गया है, उस विधानके अनुसार ही उनको अपना कर्त्तव्य-पालन करना चाहिये। उनको जो दोष या पाप लगता है, वह तो विधानका उल्लङ्घन करनेके कारण लगता है। विवाह किसके साथ हुआ, लड़कीको सुख हुआ या दुःख, इस कारणसे पिताको पाप नहीं लगता; क्योंकि वे यदि शास्त्र-आज्ञानुसार ठीक सोच-समझकर विवाह करते हैं, उसपर भी यदि सम्बन्ध प्रतिकूल हो जाता है तो उनको पाप नहीं लगता।

(६) राग-द्वेषसे मुक्त होनेका उपाय पूछा सो कुछ उपाय नीचे लिखे जाते हैं—

(क) अपने अधिकारका त्याग और कर्तव्यका पालन करना।

(ख) दूसरेके दोषोंको नहीं देखना, अपनी भूलों-को देखना और उनको पुनः न करनेकी दृढ़ धारणा करना।

(ग) अपने सुख-दुःखका कारण किसी दूसरे व्यक्ति, पदार्थ या परिस्थितिको न मानना।

(घ) किसी भी व्यक्ति या देवता आदिसे अपने सुखभोगके लिये किसी प्रकारकी चाह न करना।

(ङ) भगवान्‌के दिये हुए विवेकका आदर करना।

(च) प्राप्त बल, बुद्धि और वस्तुओंका अपनी जानकारीके प्रकाशमें ठीक-ठीक उपयोग करना।

इसी प्रकार और भी अनेक उपाय हो सकते हैं, पत्रमें कहाँतक लिखा जाय?

(७) रीति-रिवाजको धर्म नहीं माना जा सकता; क्योंकि रीति-रिवाज बहुत कारणोंसे प्रचलित होते रहते हैं और बदलते भी रहते हैं। हाँ, कुछ रीति-रिवाज धर्मानुकूल भी होते हैं; अतः अच्छे रीति-रिवाज जो शास्त्रानुकूल हो, वह तो धर्मका ही अङ्ग है; पर शास्त्रविरुद्ध रीति-रिवाज धर्म नहीं, अधर्म है।

सामान्य धर्म तो सभी मनुष्योंके लिये एक-सा होता है और विशेष धर्म वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और भावके अनुसार विभिन्न भी होता है। जैसे माताका धर्म, स्त्री-का धर्म, पुत्रका धर्म, पिताका धर्म, पतिका धर्म, ब्राह्मणका धर्म, क्षत्रियका धर्म, बालकका धर्म, बूढ़ेका

धर्म, धनवान्‌का धर्म, निर्धनका धर्म, आपत्तिमें पड़े हुएका धर्म इत्यादि अनेक भेद हो सकते हैं ।

(८) गुरुद्वारा प्राप्त मन्त्रका जप तो गुरुके आज्ञानुसार ही करना चाहिये । उनके बताये हुए विधानका ही पालन करना चाहिये । इसमें अपनी मन-मौजीसे काम नहीं लेना चाहिये ।

(९) स्त्रीकी दीक्षाका विधान नहीं है; क्योंकि विवाह-संस्कार ही उसकी दीक्षा मानी गयी है । पति ही उसका गुरु है, पतिकी दीक्षासे ही स्त्री दीक्षित मानी जाती है, अत: पतिसे अलग उसकी दीक्षा नहीं होनी चाहिये ।

(१०) अमुक लोग गीताधर्मानुसार समदर्शनसे संतुष्ट नहीं होते, ऐसी बात नहीं है । असल बात तो यह है कि अपनेको ऊँचा माननेवालोंमें समदर्शनका अभाव है । वास्तवमें तो सभी समदर्शन ही चाहते हैं, समवर्तन नहीं; क्योंकि व्यवहारमें तो समता कोई कर ही नहीं सकता । गौके साथ माँके जैसा, स्त्रीके साथ स्त्रीके जैसा, पुत्रके साथ पुत्रके जैसा व्यवहार तो सबको करना ही पड़ता है । व्यवहारका भेद किसी भी देशमें कोई भी नहीं मिटा सकता । प्रीतिका भेद मिटाया जा सकता है, सबको समानभावसे अपना माना जा सकता है । हर प्रकारसे एक मनुष्य दूसरेके हित करनेका भाव समानभावसे रख सकता है, पर व्यवहारका भेद तो रखना ही चाहिये और रखना ही पड़ेगा ।

(११) वर्ण-व्यवस्था बुरी चीज नहीं है । उसमें जो बुराइयाँ और कमी दिखायी दे रही हैं, वह व्यवस्था बिगड़नेके कारण ही है । वर्णोंका विभाजन तो नहीं मिट सकता, वर्तमान प्रणाली बदल सकती है । वास्तवमें मनुष्यमात्रके लिये श्रेयस्कर तो शास्त्रानुसार वर्ण-विभाजनको सुदृढ़ और सुव्यवस्थित रखना ही है, नये पंथकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वह श्रेयस्कर नहीं हो सकता । पर यह किसी एकके कहने-सुननेसे होनेवाला काम नहीं है ।

(१२) 'कोटवार, दरवान' यह मेरी समझमें पहरा देनेके काम करनेवालेका बोधक है, किसी वर्णका बोधक नहीं मालूम होता । राजपूत घरानोंमें यह काम पहले दासीपुत्र किया करते थे, ऐसा सुना गया है; इनका श्राद्धादि करनेका अधिकार है या नहीं, यह मैं निर्णय नहीं दे सकता; क्योंकि मुझे पता नहीं है कि ये लोग द्विज हैं या नहीं ।

ब्राह्मणोंके खान-पान और गुरुमन्त्रके विषयमें भी उपर्युक्त उत्तर ही समझ लेना चाहिये ।

कन्हैया, तेरी जय हो !

(रचयिता—श्रीहरिशङ्करजी शर्मा)

जीवन की ज्योति जगती पै जगती हो सदा ,
हीन हृदयों में आशा-रवि का उदय हो ।
कर्मवीरता के सत्य संगर में कूद पड़ें ,
शत्रुओं को मारें, मरने में भी न भय हो ॥
गीता-ज्ञान-गायक, सुनीति-नय-नायक ,
प्रबोध-बोध-दायक, सहायक सदय हो ।
देवकी के छैया, बलदाऊजी के भैया ,
क्रूर कंस के हनैया, हे कन्हैया ! तेरी जय हो ॥

तुम और मैं

दिन-रजनी, तरु-लता, फूल-फल, सूर्य-सोम, झिल-मिल तारे।
प्रतिपल, प्रति पदार्थमें तुम मुझको देते रहते प्यारे॥
कितना दिया, दे रहे कितना, इसका मिलता ओर न छोर।
कितना ही दो, प्यास न बुझती, कहता सदा 'और दो, और'॥
कभी नहीं मन मेरा भरता, कभी न पूरी होती आस।
इतना देनेपर भी, कर अवहेला, रहता सदा उदास॥
सदा कोसता रहता तुमको, सदा बताता रहता दोष।
कभी नहीं कृतज्ञ होता मैं, कभी नहीं पाता संतोष॥
इतनेपर भी तुम प्रभु! मुझको नहीं भूलते पलभर एक।
नहीं ऊबते, नहीं खीझते, देते रहते रख निज टेक॥
जरा दोष-अपराध न गिनते, बिना हेतु करते उपकार।
तुमसे तुम ही अतुल मनस्वी, तुमसे तुम्हीं अमित दातार॥
तुम जो कुछ भी देते, सबमें मधुर सुधारस भरा अनन्त।
है समर्थ कर देनेमें जगकी सारी ज्वालाका अन्त॥
मन मेरा यदि तनिक अमृत-कण लेकर उसमें रम जाता।
मिट जाते सब दुःख, तुम्हारा सुखमय दर्शन पा जाता॥
अब तो तुम ही कृपा करो, तुम ही सब कुछ मनका हर लो।
अपनी मधुर सहज अनुकम्पासे मुझको अपना कर लो॥

—'अकिञ्चन'

वाल्मीकि-रामायणमें श्रीभरतका चरित्र

(लेखक—स्वर्गीय सम्माननीय श्रीश्रीनिवासजी शास्त्री)

इस महाग्रन्थमें श्रीरामके अतिरिक्त भी अनेक महान् व्यक्ति—पुरुष और स्त्री हैं। इसलिये यह तनिक भी आश्चर्यकी बात नहीं है कि एकका प्रिय पात्र दूसरेका भी प्रिय हो ही। किसको कौन प्रिय होगा, यह प्रत्येकके जीवनादर्शों-पर अधिकांशमें निर्भर करता है। व्यक्ति-विशेषके चरित्रकी प्रतिक्रिया हमपर कैसी होती है—यह हमारी शिक्षा-दीक्षा कैसी है, महापुरुषोंने इन भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंका चित्र किस रूपमें हमारे सामने खींचा है, हमारा स्वभाव और हमारा व्यक्तित्व कैसा है, इन अनेक बातोंपर भी निर्भर है। मैंने कितनोंको ऐसा भी कहते हुए सुना है कि रामायणके पृष्ठोंमें भरत-जैसा उदात्तचरित्र दूसरा नहीं है। यह सर्वोपरि स्थान लक्ष्मणको देते हुए भी कितनोंकोही सुना है। कोई-कोई यह भी कहते सुने गये हैं कि रामायणमें हनुमान् ही एक उत्कृष्ट आकर्षक व्यक्ति हैं। आपको कदाचित् ज्ञात ही होगा कि विभीषण एक महान् भक्त माना जाता है। कोई उसे लक्ष्मणकी बराबरीका मान देते हैं तो दूसरे लक्ष्मणसे ऊँचा भी। मेरी अपनी दृष्टिसे तो मैं सिवा नायक श्रीरामके और किसीको भी अपना हृदय समर्पित नहीं करता। दूसरे भी महान् हैं, श्लाघ्य हैं; किसी एक या दूसरे या कुछ एक गुणोंके उत्कृष्ट उदाहरण भी हैं। परंतु फिर भी श्रीरामके अतिरिक्त दूसरेके लिये यह कहते मैं कठिनाई अनुभव करता हूँ कि उनके प्रति दूसरेसे अपेक्षाकृत अधिक मेरी श्रद्धा है। मैं सभीका समान पूज्य दृष्टिसे और उनकी उस यथार्थताको समझनेकी आकाङ्क्षासे अध्ययन करता हूँ कि जिससे महाकवि वाल्मीकिने उनका वर्णन किया है और जो उनके अनेक कार्यकलापों एवं कथनोंसे व्यक्त होती है। इस काव्यमें तीन महान् राज्य बताये गये हैं—अयोध्याका, किष्किन्धाका और लङ्काका। रामायणके वर्णनमें इन तीनों राज्योंके ही अधिपति बदले हैं। आश्चर्यकी बात यह है कि सभीमें बड़ा भाई राज्य खोता है और छोटे भाईको राज्य मिलता है। अयोध्याका राज्य बड़े भाईने अपने ही किसी दोषके कारण नहीं खोया था। उसने वह राज्य प्रसन्नतासे छोटे भाईको समर्पित कर दिया था। दूसरे दो राज्योंमें संघर्ष होता है। बड़ा भाई राज्यके लिये अपना जीवन ही दे देता है और छोटा भाई बड़े भाईकी मृत्यु ही चाहता है। अयोध्याके राज्यके अध्ययनसे एक और महत्त्वकी बात प्रकट होती है। यही नहीं कि श्रीराम प्रसन्नतासे भरतके लिये राज्य छोड़ देते हैं; परंतु भरत स्वयं भी वही आत्मनिवर्तन या त्याग दिखाता है और यदि श्रीराम स्वीकार कर लेते तो वह अवश्य ही उन्हें राज्य लौटा भी देता। यह अवश्य ही एक असाधारण बात है कि प्रत्येक भाई राज्यकी आकाङ्क्षा न करने और दूसरेको दे देनेमें प्रतिस्पर्द्धा करता है। हम बच्चोंके खेलके 'सड़े कद्दू'से इसकी किसी अंशमें तुलना कर सकते हैं। एक बच्चा यह कहकर 'सड़ा कद्दू' दूसरेकी ओर फेंक देता है कि 'मुझे नहीं चाहिये।' दूसरा भी उसे छूकर यह कहते हुए लौटा देता है कि 'मुझे भी नहीं चाहिये।' ऐसा ही अयोध्याके राज्यके सम्बन्धमें हुआ था। अन्तर इतना ही था कि किसीने उसे 'सड़ा कद्दू' नहीं समझा, अपितु एक ऐसा महान् पारितोषिक कि जिसको अपने-अपने लिये स्वीकार कर लेना कोई भी उचित नहीं मानता था और दूसरेको दे देना धर्म समझता था। इस दृष्टिसे यह अन्तर बड़े ही मार्केका है। परंतु मैं आपको न तो यह सोचने दूँगा और न यही कल्पना करने दूँगा कि मैं यह मान रहा हूँ कि सुग्रीव और विभीषण निश्चय ही राज्यके लोभी थे या वे अत्यधिक महत्त्वाकाङ्क्षामें बह गये थे अथवा वे एक प्रकारके बुरे व्यक्ति थे। नहीं, वे भले पुरुष थे, अत्यधिक भले ही। फिर भी वे अपने बड़े भाइयोंसे राज्य पानेके विरोधी या विरक्त नहीं थे। अवश्य ही वे सोचते थे कि उनके भाई महान् पापी हैं, वे राज्यका बुरा कर रहे हैं और उनके अपने हाथमें आनेपर राज्यकी कदाचित् अच्छी उन्नति होगी। इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि वे राज्य बड़ी उत्कण्ठासे चाह रहे थे और वे इस बातसे भी असहमत नहीं थे कि उनका बड़ा भाई इसलिये भी मारा जाय कि उसके पीछे राजा वे बनें। सुग्रीवके सम्बन्धमें जो श्लोक (चतुर्थ काण्ड, दशम सर्ग, श्लोक १०-११, ३० और अष्टम सर्ग, श्लोक ३९) रामायणमें कहे गये हैं, उन्हें स्मरण करना चाहिये और यह भी देखना चाहिये कि सुग्रीव कितना चाह रहा था कि श्रीराम वालीका जितना भी हो शीघ्र वध करें ताकि उसे राज्य और अपनी पत्नी पुनः प्राप्त हो जायँ। वह राज्यको कभी नहीं भूला। विभीषणके लिये मैं कहूँगा कि जब वह अपने बड़े भाईसे रक्षा पानेके लिये श्रीरामके पास आया तब श्रीरामके प्रमुख सलाहकारोंने यह ठीक ही कल्पना की थी कि विभीषणकी एकमात्र महत्त्वाकाङ्क्षा रावणके पश्चात्

लङ्काका राजा बननेकी है। इसमें कोई भी भूल या भ्रम नहीं था; क्योंकि श्रीराम स्वयं ही यह बात एक प्रकारसे स्वीकार कर लेते हैं। वे स्वयं कहते हैं—'राज्याकाङ्क्षी च राक्षसः' (काण्ड ६, सर्ग १८, श्लोक १३)। 'इसमें उन्हें भी संदेह नहीं है कि यह राक्षस विभीषण राज्य पानेका ही आकाङ्क्षी है।' युद्धके एक संकटकालमें, जब कि युद्ध आरम्भ हुआ ही था और श्रीराम एवं उनके पक्षका भाग्य बहुत ही मन्द दीख रहा था, श्रीराम यहाँतक कह गये कि यदि लक्ष्मण पुनरुज्जीवित नहीं होता और रणक्षेत्रमें प्राण त्याग देता है तो वे भी अपना जीवन उसी क्षण वहीं-का-वहीं समाप्त कर देंगे। उन्होंने अपने सब जनोंसे विदा भी ले ली। विचारोंमें श्रीराम अन्तके इतने निकट पहुँच गये थे; उन्हें ही एक बात सता रही थी। वह यह थी कि जब विभीषण रक्षा माँगता हुआ उनके पास आया, वे उसका प्रतीकरूप राज्याभिषेक करनेको बड़े उतावले थे। यथार्थ राज्याभिषेक तो उसका अभीतक नहीं हुआ था और वह होगा भी कि नहीं—ऐसा अब प्रतीत नहीं हो रहा था। श्रीराम स्वयं कहते हैं—

तच्च मिथ्याप्रलप्तं मां प्रवक्ष्यति न संशयः।

निःसंदेह ही मुझे मेरा वह अपूर्ण वचन, जो मैंने विभीषणको दिया था, दुःख देता है—

यन्मया न कृतो राजा राक्षसानां विभीषणः।
(६। ४९। २२)*

—कि मैं अपने दिये हुए वचनके अनुसार विभीषणको राक्षसोंका राजा अभीतक नहीं बना सका हूँ।

विभीषण भी यह देखकर कि नाटक अब प्रायः समाप्त हो रहा है, अपनी दशापर शोक करता है और अन्य अनेक बातोंके साथ-साथ यह भी कहता है—जीवन्नद्य विपन्नोऽस्मि 'यद्यपि जीवित हूँ, फिर भी मैं बड़े ही संकटमें हूँ।' प्राप्तप्रतिज्ञश्च रिपुः—'जो आशा मैंने बाँध रखी थी, अब राजा बननेकी वह आशा भी मुझे नहीं रही।'

प्राप्तप्रतिज्ञश्च रिपुः सकामो रावणः कृतः॥
(६। ५०। १९)

* सर्वत्र पहला अङ्क काण्डका, दूसरा सर्गका और तीसरा अङ्क श्लोकोंका समझा जाय।

सबसे बुरी बात यह थी कि 'रावणकी इच्छाएँ एक-एक कर सभी पूर्ण हो गयी हैं।'

युद्धकाण्डका एक अद्भुत वाक्य भी इस सम्बन्धमें हमारा ध्यान आकर्षित करता है। अयोध्याका राज्य भरतने श्रीरामके स्थानमें प्रन्यासीरूपसे स्वीकार किया था और चौदह वर्षतक अपने नायककी खड़ाऊँके निर्देशनमें उसे चलाया था। उसके लिये यह राज्य एक पवित्र थाती थी। वनवासकी समाप्तिपर जब राम लौटे, तब भरतने यह कहते हुए उनका स्वागत किया था कि उसकी महत्तम इच्छा आज पूर्ण हो गयी है, आज महत्-प्रत्यास्थापन हो जायगा और सर्वोपरि तो यह कि उस थातीको आज वह सम्हला देगा, जिसका उत्तरदायित्व लेकर उसने आजतक शासन किया था। पहली बात जो उसने की, वह श्रीरामको पादुका फिरसे पहननेकी प्रार्थना थी—

पादुके ते तु रामस्य गृहीत्वा भरतः स्वयम्।
चरणाभ्यां नरेन्द्रस्य योजयामास धर्मवित्॥
(६। १३०। ५२-५३)

उसने स्वयं श्रीरामके चरणोंके नीचे उन्हें रख दिया—

अब्रवीच्च तदा रामं भरतः स कृताञ्जलिः।
एतत् ते रक्षितं राजन् राज्यं निर्यातितं मया॥
(६। १३०। ५३-५४)

—और कहा कि 'मैं आपको वह थाती जो आपने मुझे सौंपी थी, सम्पूर्ण-की-सम्पूर्ण लौटा रहा हूँ।'

अद्य जन्म कृतार्थं मे संवृत्तश्च मनोरथः।
(६। १३०। ५४)

'मेरा जन्म आज सफल हो गया। मेरा मनोरथ पूर्ण हो गया।'

यस्त्वां पश्यामि राजानमयोध्यां पुनरागतम्।
(६। १३०। ५५)

मैंने आपको चौदह वर्ष पहले ही राजा बनानेका प्रयत्न किया था। तब आप लौटने और राज्य लेनेको राजी ही नहीं हुए। आज वह लंबा समय भी बीत गया है और आप लौट आये हैं। मैं यह देखनेको जीवित रहूँगा कि और भी अधिकतम सुख मेरे लिये क्या सम्भव है।

अवेक्षतां भवान् कोशं कोष्ठागारं पुरं बलम्।
(६। १३०। ५५)

अब पधारिये और कोश, कोष्ठागार और शस्त्रभंडारका निरीक्षण कीजिये ।

भवतस्तेजसा सर्वं कृतं दश गुणं मया ।
(६ । १३० । ५६)

आपकी इन चरणपादुकाओंके गूढतम गुणोंसे या प्रसादसे और उनसे प्राप्त प्रोत्साहनसे मैं इस अवधिमें सभीमें—कोश, कोष्ठागार और शस्त्रभंडारमें दसगुनी वृद्धि करनेमें सफल हो सका हूँ ।'

इसके बाद वह अत्यन्त अनोखी घटना घटती है जिसे सुग्रीव, विभीषण और सभी बड़े-बड़े वानर चारों ओर खड़े हुए दोनों भाइयोंके वार्तालापरूपमें बड़े मनोयोगके साथ सुन रहे हैं । एक भाई तो महान् युद्ध जीतकर अपनी पत्नीका एवं प्रतिष्ठाका उद्धार करके राज्य लेनेको लौटता है और दूसरा उसे सभी ओरसे दसगुना बढ़ाकर हृदयकी भरपूर प्रसन्नतासे लौटाता है । वह दृश्य उन सब लोगोंके लिये सहनकी पराकाष्ठाका था, सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावोंको जाग्रत् करनेवाला था । इसीलिये कवि कहते हैं कि वे सब इस अद्भुत दृश्यको देखकर हर्षाश्रु बहा रहे थे—

तथा ब्रुवाणं भरतं दृष्ट्वा तं भ्रातृवत्सलम् ।
मुमुचुर्वानरा बाष्पं राक्षसश्च विभीषणः ॥
(६ । १३० । ५६-५७)

चाहे वानरभाव हो और चाहे राक्षसभाव, परंतु सब इस दृश्यमें गल गये थे । सभी रो रहे थे । मैं यह ठीक-ठीक जाननेको बड़ा उत्सुक हूँ कि उस समय विभीषण और सुग्रीवके मनमें क्या भाव उठ रहे थे । वे अपने बड़े भाईसे कितने डरते थे ? उसके प्रति उनके क्या भाव थे ? उन्होंने कैसी योजनाएँ बनायीं, षड्यन्त्र किये, युद्ध किया और उसकी मृत्युके लिये कितनी प्रार्थनाएँ कीं ? उसके पश्चात् राज्य लेकर वे कितने प्रसन्न थे । जब इसकी तुलना उस दृश्यसे उन्होंने की, जिसे वे सामने देख रहे थे, क्या आश्चर्य है कि वे रोने न लगे हों । उनकी शक्तिसे परेकी भावनाओंका वह दृश्य था । वे यह कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि किन्हीं दो भाइयोंमें परस्पर इतना त्याग, प्रेम और श्रद्धा कभी सम्भव है ।

भरतके चरित्रकी विशिष्टताएँ

भरत, सुग्रीव और विभीषण—इन तीनों व्यक्तियोंमेंसे भरत निःसंदेह अपने निराले स्थानपर प्रकाशमान है । उसके वक्तव्योंको पढ़ने एवं उसके किये हुए आचरणका विचार करनेपर यह भास होता है कि उसमें दृढ इच्छा और तत्परता प्रचुर थी । इनका कुछ प्रमाण तो हमें उस समय मिला ही था जब कि उसने बड़े भाईके प्रति इनका प्रयोग किया था या करनेका प्रयत्न किया था । वह बड़ा भाई ही संकल्पमें, महत्ताके पालनके निश्चयमें उससे आगे बढ़ सका था । उसीके सामने भरतको कुछ नवना भी पड़ा । दूसरोंके सामने तो वह, जैसा कि हमने देखा है, अटल ही रहा । उसके कथन सभी दृढ़, निश्चयात्मक और शब्द छलरहित हैं । उनमें कोई झिझक नहीं है । अस्थायित्व नहीं है । धुँधलापन नहीं है । ऐसा भास होता है कि अपने नाना और मामाके साथ अधिक सहवासके कारण मानो वह कुछ विकृत शिशु-सा हो गया था; क्योंकि वह सिवा श्रीरामके और किसीसे कभी भय नहीं करता था । वह क्यों किसीसे डरे ? हम उसे उजड्ड भी कह दे सकते हैं । लक्ष्मण इन्हीं परिस्थितियोंमें किस प्रकारका व्यवहार करते, इसकी तनिक-सी कल्पना ही हमें गुदगुदाती है । दोनों भाइयोंमें कितना बड़ा व्यतिरेक । समान उदात्त, उच्चाशयी और स्वार्थत्यागी; फिर भी परस्पर इतने भिन्न कि आप उन्हें पहचाननेमें कभी भूल नहीं कर सकेंगे । यदि श्रीराम लक्ष्मणसे कहते कि 'यह करो, वह करो' तो वह अवसन्न होकर तत्क्षण मुनि हो जाता । वह और ही कुछ सोचता हो, उसकी यह धारणा भी हो कि श्रीराम, जिसे वह पसंद नहीं करता, ऐसा कुछ अनुचित या कठोर कर रहे हैं, यदि प्रतिवादमें वह एक शब्द ही कहनेका प्रयास कर रहा हो, तो भी ज्यों ही श्रीरामने पैर ठपकाया कि उसका सारा प्रतिवाद समाप्त; क्योंकि जहाँ बड़े भाईका सम्बन्ध हो, वहाँ लक्ष्मण स्वतः अपनेको विलय करनेमें ही प्रसन्न था । वह तो निरा सेवक भर था, एक महान् व्यक्तिके कार्यको पूरा करनेका निमित्तमात्र । इससे अधिक कुछ भी नहीं । वह एक प्राणमय निमित्त था और कभी-कभी उसके अपने विचार भी थे । परंतु वे सब श्रीरामके सामने भूमिगत थे । पक्षान्तरमें भरत बिल्कुल ही भिन्न था । जब वह श्रीरामसे भिन्न मत रखता, तब वह कहता—'पूज्य भाईसाहब, मुझे कुछ कहनेके लिये क्षमा करें ।' इस तरह विनम्रतासे प्रारम्भ करते हुए भी जैसा वह विचारता, बिना झिझकके कह ही देता । यह भी कहा जा सकता है कि उसका अपना व्यक्तित्व

था, दृढ़ व्यक्तित्व और वह उसको इस प्रकार प्रकट भी कर देता कि आप भरतका बड़ा सम्मान ही करें। जिस उच्चाशयसे वह अपने बड़े भाईके समक्ष आचरण करता, उसकी आप प्रशंसा ही करेंगे। आप उसके लक्ष्यके दृढ़ संकल्पकी सराहना ही करेंगे। आपने बड़े भाईको अपने विचारोंके अनुकूल बनानेके उपयुक्त ही कौशल दिखानेकी उसकी प्रत्युत्पन्न मतिको भी सराहेंगे। यह सब कुछ करते हुए भी, मुझे संदेह है कि आप लक्ष्मणके प्रति जितना स्नेह करते हों, उतना भरतके प्रति भी कर सकेंगे। आप अपने समस्त हृदयसे लक्ष्मणको चिपटा लेंगे परंतु भरतको आप शीश झुकाकर अभिवादन करते हुए यही कहेंगे—'हाँ, आप महान् हैं। आप बड़े संत हैं।' मान और प्रशंसा दोनों ही मेरे हृदयसे भरतके लिये निकलती हैं, परंतु लक्ष्मणके प्रति तो मेरा सारा स्नेह ही झरता है। मैं नहीं कह सकता कि ऐसा ही आप सबको अथवा आपमेंसे अधिकांशको भी होता है या नहीं। मेरे तो इन महान् पात्रोंके प्रति विचार ये ही हैं। और भी देखिये। जब वशिष्ठने, पिता दशरथकी अन्त्क्रिया करनेके उपरान्त भरतको राज्य लेने और अभिषेक करानेको कहा, तब भरतने यही तो उत्तर दिया था—'नहीं, मैं ऐसा नहीं कर सकता।' यहाँ कवि वाल्मीकि तो यहाँतक कहते हैं—

विललाप सभामध्ये जगर्हे च पुरोहितम् ॥

(२।८२।१०)

सारी सभाके समक्ष ही वह रो पड़ा और साथ ही उस बड़ी परिषद्में उसने अपने वयोवृद्ध गुरुकी निन्दा करनेको भी साहस किया। उसने उनकी निन्दा की और कहा कि 'मुझे आश्चर्य है कि आप-जैसे बुद्धिमान् वयोवृद्ध, वह राज्य जो कि इक्ष्वाकुवंशकी परम्पराके अनुसार मेरे बड़े भाईका है, लेनेके लिये मुझसे कह रहे हैं। आप राज्य लेनेको मुझे कैसे कह सकते हैं ? मैं नहीं लूँगा। मैं बड़े भाईके पास जाऊँगा और यह उसका राज्य उसे सौंप दूँगा।' भरत-जैसे नवयुवकका भरी परिषद्में एक वयोवृद्ध और कुलगुरुकी निन्दा करना बड़े ही साहस, बड़े ही आत्मविश्वासका द्योतक है। इस बातको जाने दें तो कहना होगा कि वह बड़ा ही सज्जन था। जब उसको कौसल्याने बुलाया और वह उसके समक्ष उपस्थित हुआ तब उस महिषीने, सहज ही सोचा कि कैकेयीका षड्यन्त्र उसके पुत्रको भी रुचिकर था और इसीलिये ज्यों ही वह पहुँचा, वह उबल पड़ी—

इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकण्टकम् ।

(२।७५।११)

दुर्भाग्यसे तब उसने ऐसे ही शब्दोंका प्रयोग किया कि जो भरतके लिये छातीमें छुरा भोंकने-जैसे ही थे। भरतको राज्य लेना बिल्कुल ही सम्मत नहीं था। वह उसे लौटा देना चाहता था। उसका निश्चय था कि उसकी माता कैकेयीने बहुत बुरा किया है। परंतु कौसल्याने तो उसके लिये 'राज्यकाम' शब्दका ही प्रयोग कर दिया और कहा कि 'तुम मेरे पुत्रसे राज्य लेनेको प्रत्यक्ष ही चिन्तित हो।'

विव्यथे भरतस्तीव्रं व्रणे तुद्येव सूचिना ॥

(२।७५।१७)

उसे ऐसा ही लगा कि उसके घावमें तीक्ष्ण सूई भोंक दी गयी है और अधिक दुःख देनेकी गरजसे उसे इधर-उधर घुमाया भी जा रहा है। इतना कहना ही कदाचित् पर्याप्त नहीं था, इसलिये कौसल्याने और भी निष्ठुर शब्द कहे। हम इस वार्तालापका मर्म समझ सकें, इसके लिये कदाचित् यह स्मरण कर लेना भी हमारे लिये आवश्यक है कि जब दशरथने यह जाना कि राज्य रामसे छीनकर भरतको दिया जा रहा है, तब उन्होंने व्यथामें कितनी ही बातें कह डाली थीं, जिनमेंसे एक यह भी थी कि 'यदि भरत निःसंदेह ही अपनी माताके दुर्व्यवहारका लाभ उठाना चाहता है और राज्य ले लेता है अथवा यदि उसका हृदय उसी दिशामें झुकता है तो मैं उसे त्याग दूँगा। मैं नहीं चाहता कि मेरे मरनेपर मेरी आत्माकी परितुष्टिके लिये वह कुछ भी करे।' जब हम बहुत क्रोधमें होते हैं, तब बहुत बार इस तरह कह देते हैं। जब हम अपने किसी सम्बन्धीसे बहुत क्रोधित हो जाते हैं, तब कहते हैं कि 'जब मैं मरूँ, तब हे मेरे प्रियबन्धु ! तुम स्नान भी मत करना, तुम कुछ भी मत करना।' मानो यह एक पुत्रके लिये सम्भव ही है। चाहे पिता-पुत्रके सम्बन्ध कितने ही बिगड़े हुए क्यों न हों, पुत्रको वह सब करना ही होता है। फिर भी जब हम पुत्रको पसंद नहीं करते, सामान्यतः हम यही कहा करते हैं। हम यही चाहते भी हैं कि वह तब कुछ भी न करे। ऐसे ही दशरथने भी कहा था—

भरतश्चेत् प्रतीतः स्याद् राज्यं प्राप्येदमव्ययम् ।
यन्मे स दद्यात् पित्रर्थं मां मा तद्दत्तमागमत् ॥
(२ । ४२ । ९)

'जो कुछ वह मुझे दे, वह मुझे प्राप्त न हो । मैं नहीं चाहता कि वह मुझे प्राप्त हो ।' दूसरे शब्दोंमें यह कि 'मैं नहीं चाहता कि वह मेरी अन्त्येष्टि-संस्कारका कोई भी कर्म करे ।' दशरथने यह कहा था और कौसल्याको वह स्मरण था । इसलिये भरतको इतना कहकर ही कि तू राज्यकाम है, उसने संतोष नहीं किया अपितु एक पद आगे बढ़कर कहा—हे भरत ! अब मुझे और सुमित्राको इस स्थानसे वहाँ जाने दे, जहाँ राम है । हम चित्रकूट जायँगी । मैं अपने साथ अग्निहोत्र ही ले जाऊँगी कि जिससे क्रिया-कर्म उचित रीतिसे तू कर ही न सके ।' वह पटरानी थी । उसीका राजाके साथ अभिषेक हुआ था । इसलिये अग्निहोत्र भी उसीके अधिकारमें था । इसीलिये उसने उसे ले जानेका भय भरतको दिखाया ।

अथवा स्वयमेवाहं सुमित्रानुचरा सुखम् ।
अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य प्रस्थास्ये यत्र राघवः ॥
(२ । ७५ । १४)

मृत पूर्वजोंके लिये किये गये तर्पणकी प्रभावकता मृत और जीवितके मध्य वर्तमान स्नेहपर अधिकांशमें निर्भर करती है, यह एकमात्र विश्वास है और इसीका रामायणमें परोक्ष निर्देशन भी किया गया है । गोविन्दराज और तिलक दोनों भाष्यकार भी इसका यह कहकर समर्थन करते हैं—

'अग्निहोत्रमिति राजदेहस्याप्युपलक्षणम् ॥'

भरत कहते हैं कि 'जब वह वनमें श्रीरामसे मिलेंगे, तब कहेंगे कि हमारे पिता देवलोकको प्राप्त हुए हैं । मैंने उनका प्रत्येक क्रिया-कर्म कर दिया है । परंतु तुम्हें भी कुछ करना है और वह तुम करो । यथार्थ तो यह है कि जो कुछ हमारे पिताकी आत्मा या प्रेतका तुम तर्पण करोगे, वह, जो कुछ मैंने किया है उससे कहीं अधिक उन्हें प्रिय होगा ।'

प्रियेण किल दत्तं हि पितृलोकेषु राघव ।
(२ । १०१ । ८)

ऐसा कहा जाता है कि वह कमी बिनाका होगा ।

अक्षय्यं भवतीत्याहुर्भवांश्चैव पितुः प्रियः ॥
(२ । १०१ । ८)

और तुम हमारे पिताके अत्यन्त लाड़ले थे । क्या नहीं थे ?

त्वामेव शोचंस्तव दर्शनेप्सु-
स्त्वय्येव सक्तामनिवर्त्य बुद्धिम् ।
त्वया विहीनस्तव शोकरुग्ण-
स्त्वां संस्मरन् स्वर्गमवाप राजा ॥
(२ । १०१ । ९)

'दशरथ चले गये हैं । उनकी अन्तिम चिन्ता तुम ही थे । वे तुम्हारी प्रतीक्षा करते रहे । वे तुम्हें देखना चाहते थे । उनकी समस्त आकङ्क्षा तुममें स्थिर थी । जब तुम चले गये, उनके चित्तका शोक जरा भी शान्त नहीं हुआ । वे निरन्तर तुम्हारा ही स्मरण करते थे । वे दिवंगत हुए और अब जो कुछ भी तुम उन्हें तर्पण करोगे, वह मेरे तर्पणसे उन्हें अत्यधिक प्रिय और संतोषकारक होगा ।'

जब कौसल्याने भरतको राज्यकामनाका लाञ्छन लगाया और अग्निहोत्र लेकर चले जानेका डर भी दिखाया कि जिससे अन्तिम क्रिया-कर्म करनेके साधनसे भी वह वञ्चित हो जाय, तब भरतका हृदय मानो टुकड़े-टुकड़े ही हो गया । उसके शोक और संतापका कोई ओर-छोर ही नहीं था । उसने इसका परिचय लोकोंकी जिस परम्परामें दिया, वे अति प्रसिद्ध हैं । एक सम्पूर्ण सर्ग ही इनसे भरा है । इनमें वह शपथपूर्वक कहता है कि उसने श्रीरामका राज्य छोड़कर वन जाना कभी भी नहीं चाहा और यदि उसने ऐसा चाहा हो तो वह अपने ऊपर शापोंकी नदीका ही आह्वान कर लेता है । सारे सर्गके प्रत्येक श्लोकका अन्त इसीलिये 'यस्यार्योऽनुमते गतः' से होता है । इस वाक्यकी अनेक बार पुनरुक्ति होती है । उन सब श्लोकोंको यहाँ दुहराना सम्भव नहीं है । ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तुतः भरतने तब ये सब नहीं कहे होंगे । कविने ही इस व्याजसे मानवधर्म और गुणोंका वर्णन करनेका विचार कर लिया था । इसीलिये वे सारी बातें इन श्लोकोंमें ले आये और उन्हें भरतके मुखमें भी रख दिया और उससे कहलाया कि 'इस धर्मसे चूकने या उस बुराईके करनेवाले व्यक्तिके पाप मुझे लगें' आदि-आदि । भाष्यकार तो यह कहते ही हैं कि कविका ध्येय ही मानवधर्म और गुणोंका पूर्ण वर्णन भरतके मुँहमें रख देनेका था । दो श्लोकोंमें तो ध्वनिका आश्चर्यजनक सम्मिश्रण हुआ है । मुझे तो उन्हें पढ़कर ऐसा लगता है कि संस्कृत सीखनेवालोंकी यह परीक्षा

करनेके लिये कि वह स्पष्ट उच्चारण करना सीख गया है या नहीं, इनकी रचना महाकविने की है। देखिये तो—

अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥

(२ । ७५ । २३, २५)

—यह श्लोकार्द्ध कितना सरल है । परंतु इसमें इतने 'सकार' हैं कि इसे उच्चारण करनेवाला लड़खड़ा जा सकता है। इनका बार-बार एक साथ उच्चारण स्पष्ट नहीं किया जा सकता।

जब भरतद्वारा इस प्रकार सशपथ त्याग समाप्त हो गया, तब कौसल्याका हृदय भी उसके प्रति द्रवित हो गया और वह बोली ही तो—'नहीं, नहीं, मैं दुखी हूँ कि मैंने तुमसे ऐसा कहा।'

दिष्ट्या न चलितो धर्मादात्मा ते सहलक्ष्मणः ।
वत्स सत्यप्रतिज्ञो मे सतां लोकानवाप्स्यसि ॥

(२ । ७५ । ६२)

'तुम तो लक्ष्मणके समान हो, मैं यह भूल ही गयी थी। तुम बड़े अच्छे लड़के हो। सत्यप्रतिज्ञ हो । अपना कहा अक्षरशः तुम पूरा करोगे । सब सज्जन पुरुष जहाँ पहुँचते हैं, उस निर्वाणको तुम अवश्य ही प्राप्त करोगे।' यों कहकर भ्रातृवत्सल भरतको खींचकर माताने अपनी गोदमें ले लिया और वह रोने लगी।

इत्युक्त्वा चाङ्कमानीय भरतं भ्रातृवत्सलम् ।
परिष्वज्य महाबाहुं रुरोद भृशदुःखिता ॥

(२ । ७५ । ६३)

उधर भरतने ऐसा किया कि—

लालप्यमानस्य विचेतनस्य
प्रणष्टबुद्धेः पतितस्य भूमौ ।
मुहुर्मुहुर्निःश्वसतश्च दीर्घं
सा तस्य शोकेन जगाम रात्रिः ॥

(२ । ७५ । ६५)

—सारी रात वह भूमिपर लोटता और रामका नाम रटते और सिसकियाँ भरते रोता रहा, कभी सचेत और कभी अचेत। फिर उसने क्रिया-कर्म समाप्तकर, जहाँ राम थे वहाँ जाने और उन्हें लौटा लानेका निश्चय किया । जब रामसे वह प्रत्यक्ष मिला, तब उसने कहा—'देखिये श्रीराम! यदि परिवारमें किसी एकको वनवास भोगना ही है तो वह मुझे भोगने दीजिये। आप लौट जाइये। मैं आपका स्थान ले लूँगा।' श्रीरामने तब उत्तरमें यह कहा कि 'भरत ! यह प्रतिनिधि (Proxy) प्रबन्ध किये जानेवाला काम नहीं है। प्रत्येकको अपना कार्य आप ही करना चाहिये।'

रामायण काव्यमें यह विचार बहुत पहले ही प्रकट हो गया है कि भरत श्रीरामके स्थानमें वनवासी हों। चित्रकूटमें यकायक भरतको ऐसा विचार आया हो सो बात नहीं है। अपनी माताके साथ इस दुःखद प्रसङ्गपर बात करते हुए भरतको यह विचार आया था, ऐसा प्रतीत होता है। बातके प्रारम्भमें ही उसने मातासे कह दिया था कि वन जाकर, भाईको वापस लाकर, दासरूपमें संतुष्टचित्तसे उसकी सेवा करते हुए वह उसके (माताके) इरादोंको नष्ट-भ्रष्ट कर देगा—उसे दुःख देनेके लिये नहीं, अपितु स्वयं अपने ही सुखके लिये।

निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजसः ।
दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना ॥

(२ । ७३ । २७)

वह और भी इससे तब आगे बढ़ा था और उसने कहा था कि वह वनमें रामका स्थान लेकर प्रायश्चित्त करेगा।

आनाय्य च महाबाहुं कौसल्याया महाबलम् ।
स्वयमेव प्रवेक्ष्यामि वनं मुनिनिषेवितम् ॥

(२ । ७४ । ३१)

अपने भाईको लौटाकर और उसका राज्याभिषेक करके मैं स्वयं ही वनमें चला जाऊँगा और मुनियोंके साथ रहूँगा।

रामः पूर्वो हि नो भ्राता भविष्यति महीपतिः ।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि वर्षाणि नव पञ्च च ॥

(२ । ७४ । ८)

'जो चौदह वर्ष वनवास श्रीराम रहते, वही उनके बदले मैं रहूँगा।' इस सबका तात्पर्य इतना ही प्रतीत होता है कि 'मेरी माँका, जो नामकी ही मेरी माँ है, ध्येय सिद्ध नहीं होना चाहिये।'

न सकामां करिष्यामि स्वमिमां मातृगन्धिनीम् ।
वने वत्स्याम्यहं दुर्गे रामो राजा भविष्यति ॥

(२ । ७९ । १२)

'मैं वनमें रहूँगा।' इस प्रकार अपनी माँसे वह प्रतिवैर साधना चाहता था। 'तुम मुझे राजा बनाना चाहती थी

और उसे वनवासी। तुम्हें अधिकतम दण्ड मिले, इसलिये हम दोनों भाई अपना-अपना कार्य पलट लेंगे। मैं वन चला जाऊँगा और जितना सम्भव हो, उतना तुम्हें दुखी करूँगा।' यही उसका अभिप्राय है। आपको मालूम ही होगा कि जब वह (भरत) वनमें जाता है, तब गङ्गाके इस पार उसकी गुह (निषादराज) से भेंट होती है। पहले-पहल तो गुह उसको अविश्वाससे देखता है; क्योंकि वह श्रीरामका घनिष्ठ मित्र है। उसे यह देखकर आश्चर्य होता है कि श्रीरामके वनवास दिये जानेके इतने शीघ्र ही भरत इतनी बड़ी सेना और सारे राजमहलको लेकर क्यों उनके पास जा रहा है। इसमें क्या रहस्य है ? वह सोचता है अवश्य ही इसमें रामका कोई भला नहीं है। अतः वह भरतसे स्पष्ट ही पूछ लेता है कि 'कहिये, आपका क्या अभिप्राय है ?' और ज्यों ही भरत अपना अभिप्राय उससे कह देता है, गुहको पूर्ण संतोष हो जाता है जैसा कि वह कहता है—

धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले।
प्रयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि ॥
(२ । ८५ । १२)

'ओह ! तुम कितने महान् हो। तुम्हारा-सा दूसरा मुझे कोई नहीं मिलेगा। बिना किसी भी प्रयत्नके तुम्हें इतना बड़ा राज्य मिल गया था। तुम उसे सम्पूर्ण पद-प्रतिष्ठाके साथ ले भी सकते थे। यदि तुम लेते तो इसके लिये तुम्हें कोई भी बुरा नहीं कह सकता। फिर भी तुम उसको, एक ऐसे ध्येयके लिये जिसे तुम एक महान् धर्म मानते हो, छोड़ दे रहे हो। तुम इतने महान् हो कि मैं तुम्हारे समकक्ष कहीं किसीको देख पाऊँगा, यही मुझे संदेह है।'

और फिर यह सुनकर कि श्रीराम और उनके साथी इस किनारेपर एक रात विश्राम कर चुके थे, भरत दुःख और विषादसे विषम हो जाता है और गुहसे पूछता है कि क्या यही वह स्थान है, जहाँ मेरे भाई और भौजाईने वे सब वैभव परित्याग कर दिये थे कि जिनके वे अधिकारी थे। यहाँ घासपर वे बैठे थे। यहाँ उन्होंने वैभवका सारा सम्भार उतार फेंका था। वे यहाँ केवल मानवमात्र रह गये थे। मित्र ! मुझे-ठीक-ठीक बताइये कि कहाँ मेरे भाई सोये थे। कहाँ भौजाई सोयीं थीं और उन्होंने कहाँ क्या-क्या किया था। गुहका कोई भी वृत्त उसे संतुष्ट करे, इतना पूर्ण न था। रातभर वह सुनता रहा और गुहने यह भी कह दिया कि रामने क्यों कोई भोजन नहीं किया और केवल पानी पीकर ही, जिसे कि लक्ष्मण लाये थे, संतोष किया। फिर गुह जब अपने स्थानको लौट गया, भरतने अपने आहत हृदयपर हाथ रखे उन सभी स्थलोंका निरीक्षण किया; क्योंकि वे उन्हें भी उतने ही पवित्र थे जितने कि गुहको। जहाँ सीता सोयीं थीं, वहाँ जाकर भरतने कहा—

मन्ये साभरणा सुप्ता सीतास्मिन् शयने शुभा।

'मुझे लगता है कि भौजाई यहाँ आभूषण पहने ही सोयीं थीं। सोते समय उन्होंने उन्हें उतार नहीं दिया था'—

तत्र तत्र हि दृश्यन्ते सक्ताः कनकबिन्दवः ॥
(२ । ८८ । १४)

'क्योंकि मैं यहाँ-वहाँ सोनेके कण देख रहा हूँ।' आभूषण कठोर भूमिसे रगड़ खा गये थे और उस रगड़से उनका सोना थोड़ा बहुत खिर गया था। बहुत दिन भी इसको नहीं हुए थे। इसलिये कुछ अवशेष चिह्न अबतक दीख रहे थे, जैसा कि भरतने कहा था कि 'मैं सोनेके कण यहाँ-वहाँ चौंटे देख रहा हूँ।'

उत्तरीयमिहासक्तं सुव्यक्तं सीतया तदा।

फिर भरतने कहा 'ओहो, यहाँ उनका रेशमका उत्तरीय भी छिटका होगा।'

तथा ह्येते प्रकाशन्ते सक्ताः कौशेयतन्तवः ॥
(२ । ८८ । १५)

'क्योंकि उसके तन्तु भी तो कुछ यहाँ पड़े दीख रहे हैं।'

फिर भरतने वह स्थान देखा जहाँ कि श्रीराम, सीता और लक्ष्मणने सारे वैभवको त्यागकर नितान्त आवश्यक वस्तुएँ रख ली थीं। उसे देखकर वह कहता है—

अद्य प्रभृति भूमौ तु शयिष्येऽहं तृणेषु वा।

'मैं भी यही करनेवाला हूँ। आजसे मैं भी गुदगुदे गद्दों-पर नहीं सोऊँगा। न मैं पलंगका ही उपयोग करूँगा। मैं नग्न भूमिपर सोऊँगा या घासके बिछौनेपर।'

फलमूलाशनो नित्यं जटाचीराणि धारयन् ॥
(२ । ८८ । २६)

'मैं कन्द-मूल-फल ही खाऊँगा और वल्कल ही शरीरपर धारण करूँगा। मैं जटा भी रखूँगा।'

तस्यार्थमुत्तरं कालं निवत्स्यामि सुखं वने।
तं प्रतिश्रवमामुच्य नास्य मिथ्या भविष्यति॥

(२।८८।२७)

'जो मेरे भाईने प्रण किया है, वह पूर्ण होगा। मैं उनके प्रणका भङ्ग नहीं होने दूँगा। उनका प्रण यही तो है कि कोई एक वनवास करे। वह कोई मैं ही होऊँगा। उस प्रणका इस प्रकार प्रतिपालन हो जायगा।'

वसन्तं भ्रातुरर्थाय शत्रुघ्नो मानुवत्स्यति।
लक्ष्मणेन सह त्वार्यो ह्ययोध्यां पालयिष्यति॥

(२।८८।२८)

'जब मैं यहाँ वनमें रहूँगा, तब शत्रुघ्न मेरे साथ रहेगा। लक्ष्मण रामके साथ अयोध्या चला जायगा और राज-काज करेगा।'

अभिषेक्ष्यन्ति काकुत्स्थमयोध्यायां द्विजातयः।
अपि मे देवताः कुर्युरिमं सत्यं मनोरथम्॥

(२।८८।२९)

'उन्हें जाने दो और ब्राह्मणोंको उनका वहाँ अभिषेक करने और उन्हें राजा बनाने दो। दैव मेरे इस मनोरथको पूर्ण करे।'

जब भरत श्रीरामसे मिलने गये थे, तब उन्होंने रूक्ष वल्कल पहना था और जटा भी रख ली थी।

जटिलं चीरवसनं प्राञ्जलिं पतितं भुवि।

(२।१००।१)

इस वेशमें वे रामसे मिलने गये थे। श्रीरामतक पहुँचनेके पहले उन्हें बहुत-सा मार्ग पार करना था और उसे पार करते समय उन्होंने शत्रुघ्नसे, जो उनके साथ-साथ ही चल रहे थे, अपना हृदय खोल दिया था। उस समय भी उन्होंने आलंकारिक भाषाका ही प्रयोग किया था। उन्होंने कहा था 'न मे शान्तिर्भविष्यति।' प्रत्येक श्लोक इसी वाक्यमें समाप्त होता है कि 'मेरी आत्माको उस समयतक जरा भी शान्ति नहीं मिलेगी, जबतक ऐसा नहीं हो जायगा।'

यावन्न रामं द्रक्ष्यामि लक्ष्मणं वा महाबलम्।
वैदेहीं वा महाभागां न मे शान्तिर्भविष्यति॥

(२।९८।६)

'जबतक मैं प्रत्येकको देख नहीं लूँगा—श्रीरामको, लक्ष्मणको और वैदेहीको, मुझे शान्ति नहीं है।'

यावन्न चन्द्रसंकाशं द्रक्ष्यामि शुभमाननम्।
भ्रातुः पद्मपलाशाक्षं न मे शान्तिर्भविष्यति॥

(२।९८।७)

'जबतक मैं अपने भाईका पूर्ण चन्द्रके, विकसित कमलके समान देदीप्यमान मुख नहीं देखता, मुझे शान्ति नहीं है।'

सिद्धार्थः खलु सौमित्रिर्यश्चन्द्रविमलोपमम्।
मुखं पश्यति रामस्य राजीवाक्षं महाद्युति॥

(२।९८।१०)

'लक्ष्मण बड़ा ही भाग्यवान् है। मुझे उससे कितनी ईर्ष्या होती है! वह सदा मेरे बड़े भाईके पास ही है। वह सदा उनकी ओर देखता है और उसी मुखकी आभासे उसे प्रेरणा मिलती है।'

यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ।
प्रग्रहीष्यामि शिरसा न मे शान्तिर्भविष्यति॥

(२।९८।८)

'जबतक मैं भाईको देखकर उनके पैरोंमें नहीं पड़ जाऊँ और उनके चरणयुगल अपने हाथोंमें नहीं ग्रहण करूँ और उन पैरोंमें राजाके स्पष्ट चिह्न नहीं देख लूँ, मुझे शान्ति नहीं होगी।'

यावन्न राज्ये राज्यार्हः पितृपैतामहे स्थितः।
अभिषेकजलक्लिन्नो न मे शान्तिर्भविष्यति॥

(२।९८।९)

'जबतक वे अयोध्या नहीं चले जाते, जबतक कि भिन्न-भिन्न समुद्रों और भिन्न-भिन्न नदियोंके पावन जलका अभिषेक उनके मस्तकपर नहीं चढ़ता और वे राजाका पद एवं वैभव नहीं प्राप्त कर लेते, मुझे शान्ति नहीं है।'

(अनुवादक तथा प्रेषक —श्रीकस्तूरमलजी बाँठिया)

(शेष आगे)

आस्तिक होनेकी आवश्यकता

(लेखक—श्रीमोहनसिंहजी कोठारी)

संसारके सब प्राणी निरन्तर प्रवृत्तिमें रत रहते हैं। इस प्रवृत्तिका उद्देश्य क्या है? वे ऐसा क्यों करते हैं? जो कुछ हम करते हैं, उसका कारण यह है कि हम कुछ चाहते हैं। मूलतः सब प्राणी सुख चाहते हैं—आइये, आज सुखकी खोज करें।

सुख एक आन्तरिक अवस्थाका नाम है। यह मानना भूल है कि सुख बाह्य अवस्थाओं या भौतिक संयोगोंपर ही निर्भर करता है। उदाहरण लीजिये—कड़कड़ाती धूपमें परिश्रम करता हुआ मजदूर महलोंमें बैठे श्रीमान्से अधिक सुखी हो सकता है। अथवा एक ही अवस्थामें दो व्यक्ति रख दिये जायँ तो उनमेंसे एक सुखी और दूसरा दुखी हो सकता है। तो सुख एक आन्तरिक अवस्था है और निर्भर करती है शान्तिपर। जहाँ शान्ति है, वहीं सुख है। अब सुखके लिये हमें शान्ति, सच्ची शान्तिका मार्ग ढूँढ़ना पड़ेगा।

पुरातन कालसे ही शान्ति प्राप्त करनेके विविध मार्ग विविध व्यक्तियोंद्वारा बताये गये। कुछ लोगोंने शान्ति प्राप्त करनेके ऐसे मार्ग बताये, जिनसे और अशान्ति हुई। भगवान्ने इस अन्धकारमें सच्चा मार्ग दिखाया है—संसारमें सामान्य विचरण करनेवाले व्यक्तिके लिये निष्काम और अनासक्त भावोंसे कर्म करते रहनेपर शान्ति मिल सकती है। जहाँ फल और भोगमें आसक्ति रहती है, वहाँ कामना रहती है और कामनामें विघ्न पड़ते ही घोर दुःख होता है। बिना आसक्त हुए विचरना और कर्म करते रहना, पर फिर भी फलकी इच्छा नहीं करना आवश्यक है। इस अवस्थाकी प्राप्ति सरल नहीं—इसके लिये यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण कर्मोंको किसी शक्तिके आगे समर्पण कर दिया जाय और फिर उस समर्पणके निमित्त उत्तम कर्म करते रहें।

ऐसी महान् शक्ति, जिसमें संसारभरके सब प्राणियोंके असंख्य कर्मोंका समर्पण स्वीकार करनेकी सामर्थ्य हो, ईश्वरके सिवा और कौन हो सकती है? इसके अनुक्रमसे यह स्पष्ट हुआ कि जीवनमें सुख और शान्ति प्राप्त करनेके लिये ईश्वरमें पूर्ण विश्वास आवश्यक है। ईश्वरमें विश्वास होनेपर ही हम आत्मसमर्पण कर सकेंगे—

यही आस्तिक होनेकी आवश्यकता है।

मन की पीर हरो

(रचयिता—श्रीगोविन्दजी, बी०-एस्० सी०)

देवता, मन की पीर हरो।

उर मंथित, विश्वास अपरिचित,
स्नेह विन्दु, करुणा से वञ्चित,
शरण भरण तुम, सुधाविन्दु से,
मन-मरु क्रम हर लो।
देवता, मन की पीर हरो॥

पंथ मोदमय शून्य विवर्द्धित,
जीवन की गति रही अलक्षित,
पंथ दीप तुम, किरण कणोंसे,
मन का तम हर लो।
देवता, मन की पीर हरो॥

चञ्चल मन, इन्द्रियासक्त तन,
काम, क्रोध विषयादि प्रभञ्जन,
महादृष्टि तुम, अलख नयन से,
अविरत भ्रम हर लो।
देवता, मन की पीर हरो॥

अगम, अनन्त, अपार कर्म-पथ,
चरण थकित, निष्प्राण शब्द श्लथ,
अचल भाग तुम, कर-स्पर्श से,
जीवन-श्रम हर लो।
देवता, मन की पीर हरो॥

महान् विभूति बालब्रह्मचारी तपोमूर्ति पं०श्रीजीवनदत्तजी महाराज

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय अनन्तश्रीविभूषित नैष्ठिक बाल-ब्रह्मचारी, महान् संस्कृतज्ञ, तपोमूर्ति पं०श्रीजीवनदत्तजी महाराज, कुलपति-संस्थापक, श्रीसाङ्गवेद महाविद्यालय, नरवरका पुण्य-संस्मरण सबको पवित्र करनेवाला है, इसीलिये उनका संक्षिप्त चरित्र यहाँ लिखा जा रहा है। आशा है पाठक इससे लाभ उठायेंगे।

जन्म, जाति, स्थान

आप जातिके पूज्य ब्राह्मण थे। आपका जन्म आश्विन शुक्ला ४, संवत् १९३४ विक्रमीमें अलीगढ़में हुआ था। आपके पूज्य पिताजीका शुभ नाम पं०श्रीरामप्रसादजी महाराज था, जो बड़े ही कुलीन, परम तपस्वी ब्राह्मण थे और वैद्यकका कार्य करते थे तथा बरौलीके रावसाहब करणसिंहजीके राजपुरोहित थे। आप अपने पिताकी एक ही संतान थे। एक बार जब कि आप केवल पाँच वर्षके ही थे अलीगढ़में स्वामी दयानन्द सरस्वती पधारे। आपके पूज्य पिता पं० श्रीरामप्रसादजी (उपनाम रम्मूजी) आपको अपने साथ दयानन्दजीके पास ले गये। स्वामीजीने आपको आदेश दिया कि आप अपने इस बालकको आर्षग्रन्थ पढ़ाना और इसका पचीस वर्षसे पूर्व विवाह न करना। आपने उनकी आज्ञाको शिरोधार्य किया और ऐसा ही करनेकी प्रतिज्ञा की। सर्वप्रथम आपको पं० श्रीजीपालालजीके पास पढ़ने भेजा गया और पूज्य पं० श्रीबद्रीप्रसादजी शुक्लके द्वारा आपका यज्ञोपवीत-संस्कार कराया गया तथा उन्हींके द्वारा गायत्रीमन्त्रकी दीक्षा भी दी गयी। बादमें आपको सुप्रसिद्ध महान् विद्वान् सनातनधर्म-केसरी वेदभाष्यकार पूज्य पं० श्रीभीमसेनशर्मा शास्त्रीजी महाराजके पास इटावा विद्याध्ययन करने भेज दिया गया। श्रीशर्माजी महाराजसे आपने अष्टाध्यायी, महाभाष्यकी पूर्ण शिक्षा प्राप्त की। आपने पूर्णरूपेण शास्त्राध्ययन करनेके पश्चात् यह निर्णय किया कि सनातनधर्म ही एकमात्र सत्य धर्म है और सनातनधर्मकी शरणमें रहनेसे ही जीवका कल्याण हो सकता है; आजके मनमाने मनुष्यकृत पंथ, मत, समाज, मज़हबोंके चक्करमें फँसकर सनातनधर्मसे विमुख होनेसे कोई लाभ नहीं।

आजन्म बालब्रह्मचारी रहनेकी प्रतिज्ञा

आपके पूज्य पिताजीने सोचा कि अब आप पूर्ण विद्वान् हो गये हैं और इधर आपकी आयु भी पचीस वर्षकी हो गयी है, इसलिये अब आपका विवाह कर देना चाहिये। चारों ओरसे सम्बन्धवाले भी आने-जाने लगे और जब पूज्य ब्रह्मचारीजी महाराजको यह मालूम हुआ कि पिताजी विवाह-बन्धनमें बाँधकर मुझे संसारके मायाजालमें फाँसने जा रहे हैं, तब आपको बड़ा दुःख हुआ। आपने अपने पूज्य पिताजीसे स्पष्ट शब्दोंमें निवेदन किया—पूज्य पिताजी! मैं अपना विवाह नहीं कराऊँगा, मैं आजन्म नैष्ठिक बालब्रह्मचारी रहूँगा और अपना सारा जीवन गायत्रीके जपमें, भजन-पूजनमें, शास्त्राध्ययनमें और देववाणी संस्कृतविद्याका प्रचार करनेमें और सत्य-सनातनधर्मकी, वर्णाश्रमधर्मकी रक्षा करनेमें व्यतीत करूँगा। पण्डित जीवनदत्तजीके मनमें सनातनधर्मकी दुर्दशा देखकर बड़ी पीड़ा हो रही थी। अतएव उन्होंने कहा—पिताजी! सोचिये तो जिस सनातनधर्मकी रक्षाके लिये अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डनायक, जगन्नियन्ता साक्षात्परब्रह्म परमात्मा भी भगवान् श्रीराम-कृष्णके रूपमें अवतीर्ण होकर उसकी रक्षा करते हैं और नाना प्रकारके कष्ट उठाते हैं, जिस सनातनधर्मकी रक्षाके लिये जगद्गुरु भगवान् श्रीशंकराचार्य, जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदि आचार्य विरोधियोंसे टक्कर लेते हैं, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी घासकी रोटियाँ खाते तथा वन-वन भटकते हैं, आज वही मेरा प्राणप्यारा सत्य सनातनधर्म मिटने जा रहा है। क्या यह उचित है कि मैं सनातनधर्मको मिटता देखूँ और विवाह करके विलासी जीवन बिताऊँ? मैं सनातनधर्मकी रक्षा करना चाहता हूँ और सनातनधर्मकी रक्षा तभी होगी जब कि मेरे धर्म-प्राण भारतके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बालक अपनी देववाणी संस्कृतविद्या पढ़ेंगे, अपने वेद-शास्त्रोंका अध्ययन करेंगे, शास्त्रानुसार अपना जीवन बनायेंगे तथा ब्रह्मचारी, सदाचारी, त्यागी, तपस्वी बनेंगे। यह सब कुछ तभी होगा जब कि मैं स्वयं एक आदर्श तपस्वी बाल-ब्रह्मचारी बनकर सच्चे रूपमें जगत्के सामने आऊँगा। तभी मैं दूसरोंपर भी अपना प्रभाव डाल सकूँगा और सच्चे रूपमें संस्कृतविद्याका प्रचार तथा सनातनधर्मकी रक्षा कर सकूँगा। जबतक कथनी और करनी एक नहीं होती, तबतक कुछ भी नहीं होता।

पूज्य पिताजीने यह बात सुनी तो आप बड़े ही प्रसन्न हुए; पर आप ही उनकी एकमात्र संतान थे, दूसरा कोई भाई नहीं था। इसलिये जब आपके सामने पिताजीने यह प्रश्न रक्खा कि आगेको वंश कैसे चलेगा, तब पं० श्रीजीवनदत्तजी महाराजने अपने पूज्य पिताजीको समझाते हुए कहा—'पिताजी ! यदि मैं विवाह कर लूँगा तो मुझे गृहस्थके निर्वाहके लिये वृत्तिके निमित्त विद्या-विक्रय करना पड़ेगा। सो क्या ब्राह्मणकुलमें पैदा होनेपर विद्या-विक्रय करना उचित होगा ?' यह सुनकर पिताजीने सहर्ष अपना आग्रह छोड़ दिया।

बरौलीके परित्यागकी घटना

आप परम त्यागी, तपस्वी, महान् विद्वान् ब्राह्मण थे और बरौली जि० अलीगढ़में रहते थे। बरौलीके राजा उस समय परम तेजस्वी क्षत्रियकुलभूषण राजा राव करणसिंहजी महाराज थे। आप उनके राजपुरोहित थे। बरौलीका आपने किस प्रकार परित्याग किया, यह घटना हमें राजा करणसिंहजीके दत्तक पुत्र स्वर्गीय बरौलीनरेश राव राजकुमारसिंहजी एम्० एल० ए० ने सुनायी थी, जो इस प्रकार है। राजा करणसिंहजी बड़े ही कट्टर सनातनधर्मी राजा थे और श्रीरामानुजसम्प्रदायके श्रीवृन्दावनके श्रीरङ्गाचार्यजी महाराजके शिष्य श्रीवैष्णव थे। परंतु किसी कारणवश एक बार किसी बातको लेकर उनकी पं० श्रीजीवनदत्तजीके पिता पं० श्रीरामप्रसादजीसे कुछ बातमें खटपट हो गयी। पूज्य पं० श्रीजीवनदत्तजी महाराजको एक क्षत्रियके द्वारा अपने पूज्य पिताका अपमान सहन नहीं हुआ। उसी समय आपने बरौलीका परित्याग कर दिया और अपने पूज्य पिताजीको साथ लेकर चले गये। राजा साहबने आपसे करबद्ध क्षमा माँगी; पर आप लौटकर नहीं आये।

देशपर चारों ओर दृष्टि डालकर क्या देखा ?

अब आपने यह पूरा-पूरा निश्चय कर लिया कि मैं आजन्म बालब्रह्मचारी रहूँगा और विवाहका नाम नहीं लूँगा। आपने अपने देशकी ओर दृष्टि डालकर देखा तो उन्हें ज्ञात हुआ कि चारों ओर प्राचीन संस्कृतकी पाठशालाएँ तो एक-एक करके टूटती चली जा रही हैं और उनकी जगह धर्मप्राण भारतमें गाँव-गाँवमें, कस्बे-कस्बेमें, शहर-शहरमें अँग्रेज़ीके स्कूल-पर-स्कूल, कालेज, यूनिवर्सिटियाँ खुलती चली जा रही हैं, जिनमें लाखों लड़के पढ़-पढ़कर धर्मभ्रष्ट होते चले जा रहे हैं। जिस चोटी-जनेऊकी रक्षाके लिये श्रीगुरुगोविन्दसिंहजीके लड़के, वीर हकीकत और लाखों भारतीय अपने प्राणोंपर खेल गये, जिन्होंने जालिम औरंगज़ेबकी चमचमाती खूनी तलवारसे भी भय नहीं माना, वही चुटिया-जनेऊ आज बात-की-बातमें अँग्रेज़ी पढ़ते ही हिंदू लड़के अपने आप उतारकर फेंक दे रहे हैं। न किसीके सिरपर चोटी है, न गलेमें जनेऊ और न माथेपर तिलक है। कोरे उद्दण्ड, उच्छृङ्खल, खड़े-खड़े मूतनेवाले, बीड़ी-सिगरेटके धूँए उड़ानेवाले, सबकी जूँठी चायकी प्यालियाँ चाटनेवाले, कोट, बूट, टोप, नकटाई डाटनेवाले और ईश्वर, वेद-शास्त्र, धर्म-कर्मकी खिल्ली उड़ानेवाले, दिन-रात विलासिताके चक्करमें घूमनेवाले घोर नास्तिक बनकर निकल रहे हैं। आपका हृदय रो पड़ा। आपसे ऋषिसंतानकी दुर्दशा नहीं देखी गयी। आपने यह निश्चय किया कि मैं स्वयं एक आदर्श परम त्यागी तपस्वी विद्वान् ब्रह्मचारी बनूँगा और अपने-जैसे इस प्रकारके हजारों ब्राह्मणोंको बनाकर निकालूँगा, जिनके सिरोंपर लंबी शिखाएँ होंगी, गलेमें पवित्र यज्ञोपवीत होंगे और माथेपर तिलक होंगे और वेद-ध्वनि करते हुए वे कलियुगमें सत्ययुगका अद्भुत दृश्य उपस्थित करते होंगे। मैं इस प्रकार देववाणी संस्कृतकी, वेद-शास्त्रोंकी और सत्य सनातन-धर्मकी सेवा करके जीवनको सफल करूँगा।

संवत् १९६० में आप अपने साथ अपने पूज्य पिताजीको लेकर नरवर (जिला बुलन्दशहर) चले आये। नरवर उस समय एक निर्जन स्थान था। चारों ओर घोर जंगल-ही-जंगल था। आपने उस निर्जन स्थानमें देखा कि एक टूटा-फूटा भगवान् श्रीशङ्करजी महाराजका मन्दिर है और सामने पतित-पावनी, कलिमलहारिणी जगज्जननी श्रीश्रीगङ्गाजी महारानी बह रही हैं। बस, इसे ऋषि-भूमि समझकर और पाँच छात्रोंको लेकर 'विश्वविश्वेश्वरी' पाठशाला, नरवरके नामसे पाठशाला आपने प्रारम्भ कर दी। फूसकी झोंपड़ियाँ डाल लीं और उन्हींमें रहकर इस महर्षिने घोर तपस्या, निरन्तर गायत्रीका जप, त्रिकाल-संध्या, त्रिकाल श्रीगङ्गाका स्नान, ध्यान, भजन-पूजन और भगवान् श्रीशङ्करका भजन-पूजन करना प्रारम्भ कर दिया। आप न तो किसी स्त्रीका मुख देखते, न बातें करते और न स्त्रीके हाथका बना भोजन ही करते थे। स्वयं भोजन बनाकर खाते थे। न किसीसे कुछ माँगना और न किसीसे कुछ कहना। बस, श्रीभगवदिच्छासे बिना माँगे जो कुछ मिल गया, उसे स्वयं अपने हाथोंसे बनाना, भगवान्को भोग लगाकर पहले पूज्य पिताजीको भोजन कराना और फिर जो बच गया, उसे पा लेना—यह नियम हो गया। प्रातःकाल

ब्राह्ममुहूर्तमें उठते और शौच आदिसे निवृत्त होकर पतित-पावनी श्रीगङ्गाजी महारानीके स्नानको जाते और बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे श्रीगङ्गाजीका स्नान, पूजन, संध्या-वन्दन करके अपनी कुटियामें आकर ग्यारह बजेतक गायत्रीका जप करते, किसीसे भी नहीं बोलते। कभी यदि बोलना भी पड़ जाता तो संस्कृतमें ही बातें करते और फिर दोपहरको श्रीगङ्गा-स्नान और मध्याह्नकी संध्या करते। मन्दिरपर आकर श्रीशङ्करजीका दर्शन करते और फिर अपने हाथों भोजन बनाते। दिनमें छात्रोंको पढ़ाते और संध्याको फिर स्नान-संध्या करते और रात्रिको दस बजेतक गायत्रीका जप करते तथा महाभारतकी, श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंकी कथाएँ सुनते। इस प्रकार इस महर्षिका सारा समय पवित्र ब्राह्मणोचित तपस्यामें व्यतीत होने लगा।

धीरे-धीरे पाँच छात्रोंसे बढ़कर पंद्रह छात्र हो गये और कुटियाएँ भी बढ़ने लगीं और भारतके कोने-कोनेसे विद्यार्थियोंका, छात्रोंका आना प्रारम्भ हो गया। श्रीगङ्गा, गायत्री और भगवान् श्रीआशुतोष शङ्करजी महाराजकी ऐसी अद्भुत कृपा हुई कि जंगलमें मङ्गल होने लगा। फूसकी कुटियाओंकी जगह धीरे-धीरे पक्की कुटियाएँ बनने लगीं। वेदभवन बन गया, श्रीशङ्करजीका मन्दिर फिरसे बड़ा सुन्दर बन गया। सैकड़ों विद्यार्थी लंबी-लंबी चोटी लटकाये, गलेमें यज्ञोपवीत धारण किये और माथेपर तिलक लगाये वेदध्वनि करते, श्रीगङ्गा-तटपर बैठे संध्या-वन्दन करते, श्रीशङ्कर-मन्दिरपर एक साथ उच्च स्वरसे श्रीशङ्कर-स्तोत्रके पाठ करते और रुद्रीका पाठ करते हुए सत्ययुगी दृश्य उपस्थित करने लगे। अब तो वह पाठशाला श्रीसाङ्गवेद-महाविद्यालयके नामसे भारतके कोने-कोनेमें विख्यात हो गयी। खुर्जाके परम भक्त स्वर्गीय सेठ सूरजमलजी आपके परम भक्त बन गये और धनद्वारा विद्यालयकी सेवा करने लगे। बड़े-बड़े विद्वान्, शास्त्री, आचार्योंको बुला-बुलाकर अध्यापक रक्खा गया। इस प्रकार विद्यालय दिनोंदिन उन्नति करने लगा। बड़े-बड़े धनी, अधिकारी, राजा, महाराजा, धर्माचार्य, विद्वान् विद्यालयकी ख्याति सुनकर दर्शनार्थ आने लगे और अद्भुत सत्ययुगी दृश्य देखकर और कुटियामें बैठे घोर तपस्या करते, गायत्रीका जप करते महर्षिको देखकर प्रभावित होने लगे।

महात्माओंका शुभागमन

एक बहुत ही उच्च कोटिके महान् धुरन्धर विद्वान् परम त्यागी तपस्वी संन्यासी प्रातःस्मरणीय अनन्त श्रीदण्डी स्वामी श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीस्वामीजी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी महाराजने इस विद्यालयकी ख्याति सुनी और इधर पूज्यपाद ब्रह्मचारी श्रीजीवनदत्तजी महाराजने भी आपकी बड़ी प्रशंसा सुनी। पूज्य ब्रह्मचारीजी महाराजकी प्रार्थनापर आप विद्यालयमें पधारे और साक्षात् ऋषि-आश्रम देखकर यहींपर निवास करने लगे। इधर भारतकी महान् विभूति परम पूज्यपाद अनन्त-श्रीस्वामी श्रीहरिहरानन्द सरस्वती श्रीकरपात्रीजी महाराज जब घर-बारका परित्याग करके घरसे निकले, तब आपने किसीसे नरवर-विद्यालयका नाम सुना। फिर क्या था, आप सीधे नरवर चले आये। आपने इस ऋषि-आश्रमकी एक कुटियामें बालब्रह्मचारी ब्राह्मणश्रेष्ठको गायत्री-जप और घोर तपस्यामें तल्लीन देखा और दूसरी कुटियामें उच्च कोटिके वीतराग ब्रह्मनिष्ठ सर्वशास्त्रनिष्णात दण्डी स्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी महाराजके दर्शन किये और चारों ओर वेद-ध्वनिका पवित्र गुंजार सुना। बस, आपने यहीं रहकर विद्याध्ययन करने और घोर तपस्या करनेका निश्चय कर लिया। आप पूज्यपाद श्रीस्वामी विश्वेश्वराश्रमजी महाराजसे विद्याध्ययन करने लगे। आपका घोर त्याग, तपस्यामय जीवन देखकर विद्यालयकी ख्याति और भी फैल गयी। जिस विद्यालयसे पूज्य श्रीकरपात्रीजी महाराज-जैसे महापुरुष निकलें, उसकी महत्ताको कोई क्या कह या लिख सकता है? जब जगद्गुरु शंकराचार्य शृङ्गेरी पीठाधीश्वरजी महाराजको पता लगा, तब आप भी कृपाकर पधारे और चार महीने ठहरे। जगद्गुरु शंकराचार्य गोवर्धनपीठाधीश्वर, जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्रीस्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज-जैसे बड़े-बड़े धर्माचार्य और पूज्यपाद श्रीस्वामी श्रीपूर्णानन्दतीर्थ उड़िया-बाबाजी महाराज-जैसे संत महीनों आकर ठहरने लगे।

ऐतिहासिक यज्ञके यजमान

जिस समय पूज्य श्रीकरपात्रीजी महाराजने दिल्लीका ऐतिहासिक श्रीशतकुण्डी महायज्ञ कराया, तब आपको उसका यजमान बनाया गया। जिस समय आप यज्ञमें पधारे और भारतके कोने-कोनेसे वेदपाठी विद्वान् ब्राह्मणोंने आपकी ख्याति सुनी, तब सभी आपके दर्शनोंके लिये टूट पड़े। परम तपस्वी विशालकाय महान् तेजस्वी बालब्रह्मचारीको एक हाथमें कुशा लिये और दूसरेमें माला लिये गायत्रीका जप करते देखकर सबके मस्तक श्रद्धासे आपके श्रीचरणोंमें झुक गये। बड़े-बड़े अंग्रेजतक आपके दर्शन करके और वृद्धावस्थामें भी आपके

इस प्रकारके महान् तेजस्वी शरीरको देखकर दंग रह गये। आप कैसे घोर तपस्वी और तेजस्वी हैं और बड़े-बड़े संत-महात्मा आपको किस प्रकार श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं, यह हमने उस समय देखा कि जिस समय एक बार मेरठमें पूज्यपाद श्रीमज्जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीस्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजने एक बहुत बड़ा यज्ञ कराया तथा सबसे पहले आपको बुलाया और स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि जिस यज्ञमें ऐसे परम तपस्वी महर्षि पधारे हैं, इस यज्ञकी सफलतामें क्या संदेह है। पूज्य श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजने अपने श्रीवृन्दावनके श्रीकृष्णाश्रमके उत्सवमें जबतक आपको नहीं बुला लिया चैन नहीं लिया।

साक्षात् दयाकी मूर्ति

आप साक्षात् दया-मूर्ति थे। किसीपर कभी क्रोध करना तो आप जानते ही नहीं थे। किसीको भी दुखी नहीं देख सकते थे। जो भी दुखिया आपके सामने आ गया, उसीके दुःख दूर करनेका भरसक प्रयत्न करते थे। जहाँ आपने अपने आश्रमसे हजारों बड़े-बड़े शास्त्री, आचार्य, वेदपाठी बना-बनाकर निकाले, वहाँ आपने हजारों दीन-दुखियोंको नौकरी दिलाकर, रोगियोंको मन्त्र-जप आदि करना बताकर उनकी सहायता की। हजारों, लाखों मनुष्योंको कट्टर सनातनधर्मी, परम आस्तिक, सदाचारी बनाया और हजारोंसे बीड़ी-सिगरेट, चाय-तम्बाकू, शराब-कबाब, मांस-मछली, प्याज-लहसुन, सलजम आदि खाना छुड़ाकर उनके जीवनको पवित्र बनाया।

राजा साहबपर कृपा

आपने बरौलीके राव करणसिंहजीसे अप्रसन्न होकर बरौलीका परित्याग कर दिया था, यह बात राव करणसिंहजीके दत्तकपुत्र राव राजकुमारसिंहजी एम्० एल्० ए० को बराबर खटका करती थी और वे चाहते थे कि महाराज हमें किसी प्रकार क्षमा करें और हमारे राजमहलमें पधारें। आप एक दिन श्रीरामानुजसम्प्रदायके पण्डित श्रीभूदेवशर्माजीके साथ श्रीमहाराजजीके पास पहुँचे और श्रीचरणोंमें जाकर बैठ गये। तदनन्तर महाराजजीसे करबद्ध प्रार्थना की कि 'महाराजजी! अपराध क्षमा कीजिये और किसी प्रकार महलोंमें पधारकर अपनी श्रीचरणरजसे उसे पवित्र कीजिये। महाराजजीका हृदय पिघल गया। आपने कहा—'अच्छा, जाओ; बरौलीमें कोई यज्ञ आदि शुभ काम करो, जिसमें हम भी आयेंगे।' राजा साहबने ऐसा ही किया। उसमें महाराज पधारे। दस-बारह दिन ठहरकर खूब धार्मिक जागृति पैदा की। महाराजजीकी इस असीम कृपाको राजासाहब जीवनपर्यन्त मानते रहे।

धन छूना पाप

आप त्याग-तपस्याकी ऐसी साक्षात् मूर्ति थे कि कभी भूलकर भी रुपये-पैसेका स्पर्शतक नहीं करते थे। कोई कुछ भी दे, आप उसपर हाथ नहीं लगाते थे। आश्रमका दूसरा अध्यापक या विद्यार्थी ही उसे उठाता था। कई बार ऐसा भी देखा गया कि कई बड़े-बड़े सेठ आपके दर्शनार्थ आये और आपके श्रीचरणोंमें पाँच-पाँच सौ रुपयेके नोट रखकर चले गये; पर आपने उनकी ओर ताका तक नहीं और जब कोई आश्रमका आदमी आया, तब उसने उठाया, नहीं तो यों-ही पड़े रहे। यों ही पड़े छोड़कर आप अपने जप-ध्यानमें तल्लीन हो जाते। कोई उठाकर ले जाय या छोड़ जाय, कोई चिन्ता नहीं। किसीसे भी आप कभी एक पाईकी भी याचना नहीं करते थे। जो भी भगवदिच्छासे आ गया, उसीसे निर्वाह करते थे। विद्यालयके निमित्त जो भी आता था, उसमेंसे आप अपने लिये एक पाई भी नहीं लेते थे। वह सब अध्यापकोंमें, विद्यार्थियोंमें खर्च होता था। अपने लिये जो शिष्योंसे आता था, उसीसे निर्वाह करते थे। वर्षमें जो खर्चेसे बच जाता था, उस सबका भंडारा कर विद्यार्थियोंमें वितरण कर देते थे। अगले वर्षके लिये एक पाई भी नहीं रहने देते थे।

शास्त्रानुसार श्राद्ध

आप प्रतिवर्ष शास्त्रानुसार बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे अपने पूज्य माता-पिताका श्राद्ध किया करते थे, जिसमें बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे ब्राह्मण विद्यार्थियोंको पूज्य मानकर उनका पूजन करके उन्हें भोजन कराते तथा उन्हें प्रसन्न करते थे। सब कार्य शास्त्रानुसार करते थे। आपने कभी यह अभिमान नहीं किया कि मैं घोर तपस्वी हूँ, मुझे अब श्राद्धादि करनेकी क्या आवश्यकता है। आप समय-समयपर सभी कार्य शास्त्रानुसार सनातन-धर्मानुसार स्वयं श्रद्धापूर्वक करते थे तथा औरोंको भी करनेको कहते थे।

भक्तका काम भगवान् बनाते हैं, इसकी सत्य घटना

श्रीसाङ्ग-वेदविद्यालयमें हमें एक पुराने विद्यार्थी शास्त्रीजीने अपनी आँखों देखी एक आश्चर्यजनक सत्य घटना सुनायी, जो इस प्रकार है—

एक बार विद्यालयमें विद्यार्थियोंके लिये खाने-पीनेका कुछ सामान नहीं रहा और सामान लानेके लिये पैसा भी किसीके पास नहीं बचा। विद्यार्थी और अध्यापक सभी भूखे थे और लगभग दस-ग्यारह बज रहे थे। पूज्य महाराजजी उस समय पतितपावनी श्रीगङ्गाजी महारानीजीके परम पवित्र तटपर झोंपड़ीमें बैठे गायत्रीके जपमें तल्लीन थे। एक अध्यापकने जाकर प्रार्थना की कि 'श्रीमहाराजजी ! आज तो विद्यालयमें अन्नका एक दाना भी नहीं है। सभी विद्यार्थी भूखे हैं, क्या किया जाय?' यह सुनकर परम तपस्वी महाराजजी तनिक भी विचलित नहीं हुए और अपने श्रीमद्भगवद्गीताका यह श्लोक कहा—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

और पतितपावनी श्रीगङ्गाजी महारानीकी ओर संकेत करते हुए कहा कि 'क्या श्रीगङ्गा माताको हमारी चिन्ता नहीं है?' ऐसा कहकर ज्यों ही आप आगेको चले तो क्या देखते हैं कि श्रीगङ्गामें एक नौका चली आ रही है और उसमें खाने-पीनेका कचौड़ी-पूड़ी, साग आदि सब सामान है। नौका आकर वहीं ठहर गयी और सब सामान ले जाकर विद्यार्थियोंको खूब छककर भोजन कराया गया। किसी भक्त सेठने यह सब सामान बिना कहे भिजवाया था। इस घटनाको देखकर सब चकित हो गये और श्रीगङ्गाजीकी कृपाको यादकर गद्गद हो गये।

कीर्तनके साथ शास्त्रीय कर्म भी आवश्यक

कुछ लोग भ्रमसे कहने लगे थे कि महाराजजी कीर्तनका विरोध करते हैं; पर ऐसा कहना अज्ञानताका परिचय देना है। हमारे प्रश्न करनेपर स्वयं महाराजजीने बताया था कि 'हम कलिकालमें संकीर्तनको एक मात्र उद्धारका मार्ग मानते हैं; पर साथ ही कीर्तनकी आड़में वर्णाश्रमधर्मका विध्वंस करना, जात-पाँतको मेटना, सबके हाथका खाना-पीना, चोटी-जनेऊ उतार फेंकना और संध्या-वन्दन नित्यकर्म न करना इसे भी घोर पाप मानते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शास्त्रानुसार अपना यज्ञोपवीत करायें, संध्या-वन्दन करें और श्रीभगवन्नाम-संकीर्तन भी करें तो बहुत शीघ्र कल्याण हो। सब कार्य शास्त्रानुसार, सनातनधर्मानुसार और मर्यादानुसार ही होने चाहिये, तभी कल्याण होगा। मनमानी करनेसे तो लाभके बदले हानि ही होती है।

जीवनभर किसी भी स्त्रीके हाथका भोजन नहीं किया

आप जहाँ अखण्ड नैष्ठिक बालब्रह्मचारी थे, वहाँ आप पचासों वर्षतक अपने हाथोंसे ही भोजन बनाकर पाते रहे और किसी स्त्रीके हाथका बना भोजन तो आपने कभी पाया ही नहीं। अब आपकी पचासी वर्षकी आयु हो गयी थी और बड़े वृद्ध हो गये थे, इसलिये अब कुछ दिनोंसे आपका भोजन आपका एक ब्राह्मण विद्यार्थी बनाने लगा था। बाजारकी बनी तो आपने कभी भी न कोई चीज खायी और न छूयी। बड़े ही आचार-विचारका पालन करनेवाले थे और स्त्रियोंसे दूर रहनेमें ही कल्याण मानते थे। आप श्रीश्री-मारुतिनन्दन भगवान् श्रीहनुमंतलालजी महाराजके अनन्य प्रेमी थे। नित्य श्रीहनुमान्‌जी महाराजके चित्रका चन्दनादिसे पूजन करते थे। आपने साठ वर्षोंतक निरन्तर गायत्रीका जप किया, त्रिकाल संध्या की, श्रीगङ्गास्नान किया और बहुत बड़ी संख्यामें बड़े-बड़े यज्ञ-अनुष्ठान और दुर्गापाठ कराये और हजारों बड़े-बड़े वेदपाठी शास्त्री, आचार्य, कर्म-काण्डी विद्वान् बनाये, जो भारतके कोने-कोनेमें फैलकर सर्वत्र सनातनधर्मका प्रचार कर रहे हैं। पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज आपके विद्यालयकी महान् दिव्य विभूति हैं। पं० श्रीसुदर्शनाचार्यजी महाराज, पं० श्रीपातीराम शर्मा व्याकरणाचार्यजी, पूज्य आचार्य विजय-प्रकाशजी महाराज, पं० श्रीश्यामलाल शर्मा व्याकरणाचार्यजी, पं० श्रीनवनिधि शर्माजी, पं० श्रीबाँकेलाल शास्त्रीजी, पं० श्री-सत्यव्रत शास्त्रीजी आदि बड़े-बड़े विद्वान् आपके विद्यालयसे प्रसूत रत्न हैं।

एक ज्योतिषीद्वारा पंद्रह वर्ष पूर्व ब्रह्मलोकप्रयाणकी तिथि बतानेकी आश्चर्यजनक सत्य घटना

आपके पास पंद्रह-बीस वर्ष पूर्व एक पं० श्रीरामस्वरूप नामक ज्योतिषी पधारे, जो त्रिकालदर्शी माने जाते थे। उन्होंने आपके सम्बन्धमें भविष्यवाणी करते हुए अपने हाथसे लिखकर दिया था कि 'आपका ब्रह्मलोकप्रयाण चैत्र कृष्णा दशमी गुरुवार संवत् २०१२ को प्रातःकाल ८॥ बजे होगा। उस समय आपके पास प्रातः आपकी कुटियामें एक एकाक्ष (काना) साधु आकर आपके दर्शन करेंगे। उनको देखते ही आप ॐका उच्चारण करके अपना शरीर छोड़ देंगे।' यह लिखा हुआ कागज अभीतक विद्यालयमें रक्खा हुआ है।

एकाक्ष साधुका आना और श्रीमहाराजजीका ब्रह्मलोकप्रयाण करना

भाद्र शुक्ला १४ संवत् २०१२ को अकस्मात् आपको शीतज्वर हो गया, जो फाल्गुन कृष्णा ३० तक बीच-बीचमें आता रहा। आपने किसी भी प्रकार नित्यकर्म करना नहीं छोड़ा, इसलिये दुर्बलता बहुत बढ़ गयी। बहुत-से बड़े-बड़े योग्य वैद्य बुलाये गये और उनकी ओषधि चलती रही। विशेष लाभ कुछ भी नहीं हुआ और दुर्दैवविपाकसे दिनों-दिन अवस्था क्षीण होती गयी। इधर त्रिकालदर्शी ज्योतिषी-जी महाराजका बताया समय भी निकट आ पहुँचा। किसीको क्या पता था कि भारतके महान् संस्कृतज्ञ धुरन्धर विद्वान् सनातनधर्मके महान् सूर्यका अस्त होने जा रहा है ? शरीर छोड़नेसे ठीक एक दिन पूर्व एक एकाक्ष (काना) साधु फर्रुखाबादसे नरवरके श्रीमहाराजजीकी किसीसे प्रशंसा सुनकर दर्शनके लिये चले और रात्रिमें नरौरा आकर ठहर गये। प्रातःकाल नरवर आकर श्रीगङ्गास्नान करके वे श्रीमहाराजजीके दर्शनोंके लिये चले। इधर श्रीमहाराजजीको गीताका दूसरा अध्याय सुनाया जा रहा था। वह पूरा हुआ। झटसे एकाक्ष (काना) साधु कुटियामें घुसे और उन्होंने ज्यों ही महाराजजीको प्रणाम किया, त्यों ही महाराजजीने उन्हें देखते ही हरिॐका उच्चारणकर ब्रह्मलोकको प्रयाण कर दिया। ठीक वही चैत्र कृष्णा दशमी गुरुवार संवत् २०१२ का प्रातःकाल ८॥ का समय था। एकाक्ष साधुको देखनेके लिये जनता उमड़ पड़ी और उनके छायाचित्र लिये गये।

भारतभरमें शोक

इस प्रकार हमारे परम पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय वीतराग ब्रह्मनिष्ठ नैष्ठिक बालब्रह्मचारी तपोमूर्ति पं० श्रीजीवनदत्तजी महाराजका ब्रह्मलोकप्रयाण हो गया। इससे सारे भारतमें एकदम शोककी लहर दौड़ गयी और जगह-जगहसे तार आने लगे। हजारों स्त्री-पुरुष अन्तिम दर्शनोंके लिये टूट पड़े। तुरंत जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर अनन्त श्रीविभूषित १००८ श्रीस्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजको सूचना दी गयी और इधर खुर्जासे आपके परम भक्त सेठ श्रीसूरजमल बाबूरामजीने अपनी ओरसे आठ-नौ मन चन्दन, घी, मेवा आदि सामान भेजा, जिससे आपका श्रीगङ्गातटपर अन्तिम दाह-संस्कार किया गया। जगद्गुरु शंकराचार्यजी महाराजने श्रद्धाञ्जलि भेंट करते हुए आपको एक विश्वकी महान् विभूति बताया और कहा कि 'आज भारतके महान् तपस्वी ब्राह्मणरूप सनातनधर्मका सूर्य अस्त हो गया। श्रीहरिद्वार कुम्भसे पूज्यपाद श्रीकरपात्रीजी महाराज भी मोटरद्वारा पधारे और एक घंटा ठहरकर श्रद्धाञ्जलि भेंटकर काशीको प्रस्थान कर गये। सारे भारतके कोने-कोनेसे तार-चिठियाँ आने लगीं और जगह-जगह स्मृति-सभाएँ हुईं। चैत्र शुक्ला ७ दिन भौमवारको ब्रह्मभोज हुआ, जिसमें कई हजार ब्राह्मणोंको भोजन कराया गया। पूज्य शास्त्रार्थमहारथी कविरत्न पं० श्री-अखिलानन्दजी महाराज, सुप्रसिद्ध आहिताग्नि पं० श्री-बालकरामजी शर्मा अग्निहोत्री ऋषिकेश, श्रीस्वामी देवेन्द्रतीर्थ-जी महाराज आदि बड़े-बड़े महानुभाव पधारे और सभीने विराट सभामें आपको अपनी-अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पण कीं। अन्तमें हम भक्तिपूर्ण श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हुए आपके शिष्योंसे करबद्ध प्रार्थना करते हैं कि जिस सनातनधर्मकी, जिस संस्कृतविद्याकी, हिंदू-सभ्यता-संस्कृतिकी, शास्त्रोंकी रक्षाकी चिन्ता महाराजजी करते रहे, उसी प्रकार रक्षा करना आप भी अपना प्रधान परम कर्तव्य समझकर लगे रहें और इन्हें जिस प्रकार भी हो बचानेका पूरा-पूरा प्राणपणसे प्रयत्न करें।

बोलो सनातनधर्मकी जय

भक्तिसे परमशुद्धि

शृण्वतां गृणतां वीर्याण्युद्दामानि हरेर्मुहुः। यथा सुजातया भक्त्या शुद्ध्येन्नात्मा व्रतादिभिः॥

(श्रीमद्भागवत ६। ३। ३२)

जो लोग बार-बार भगवान्के उदार और कृपापूर्ण चरित्रोंका श्रवण-कीर्तन करते हैं, उनके हृदयमें प्रेममयी भक्तिका उदय हो जाता है। उस भक्तिसे जैसी आत्मशुद्धि होती है, वैसी कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि व्रतोंसे नहीं होती।

हमारी पद-यात्रा भगवत्-प्रार्थनामात्र है

(प्रेषक—श्रीदुर्गाप्रसादजी)

(श्रीविनोबा)

आज हमको एक भाईने पूछा, 'आपने दिनमें दो दफा पद-यात्रा शुरू की है* पर उससे गाँवमें काम कैसे होगा ? घूमनेका ही काम मुख्य हो जायगा, शरीरको तकलीफ़ दे-देकर लोगोंपर क्या आप असर डालना चाहते हैं ?' मैंने कहा—'जिसको आप घूमना कहते हैं, वह हमारी प्रार्थना है। श्रुतिकी आज्ञा है कि 'घूमते रहो' इसीलिये हम घूमते रहते हैं। वैसे घूमते रहनेसे ही कार्य होता है, सो बात नहीं, बैठे-बैठे भी काम हो सकता है, लेकिन हमको चलनेकी प्रेरणा हुई। लोगोंके पास हम जाते हैं, तो हमें अच्छा लगता है और लोगोंको भी अच्छा लगता है।' उन भाईने फिर कहा—'दो-दो दफा चला करेंगे तो फिर गाँवमें जाकर झाड़ू लगाना, बातें करना आदि काम आप नहीं कर सकेंगे।' हम कहना चाहते हैं कि ऐसे बाह्य कार्योंपर हमारा बहुत ज्यादा विश्वास भी नहीं है। ये काम गलत तो नहीं हैं, परंतु उनकी शक्ति सीमित है। मुख्य शक्ति जो है वह अन्तरकी है, भगवद्भक्तिकी है।

हमारी यात्रा भगवत्-प्रार्थनाके तौरपर चल रही है और उससे हमारे हृदयको प्रसन्नता होती है। हम नहीं समझते हैं कि लोगोंके साथ बहुत ज्यादा चर्चा करेंगे, तो उसका ही असर होगा। लोक-सम्पर्क होना चाहिये सो तो वह हो ही रहा है। बाकी कार्य भगवत्-प्रार्थनासे होते हैं। वैसे तो प्रार्थना बैठकर भी हो सकती है, परंतु हम चलकर प्रार्थना करना पसंद करते हैं; क्योंकि इसमें आलस्यकी कोई सम्भावना नहीं रहती, सब लोगोंके दर्शन भी होते हैं। हिंदुस्तानके लोगोंमें दर्शन लेनेका जो एक पागलपन है, वह हममें भी है। वे समझते हैं कि दर्शनसे उन्हें कुछ मिलता है। मेरा भी वैसा ही विश्वास है। लोगोंके दर्शन होते हैं तो उससे मेरा कार्य होगा। तात्पर्य यह कि बाहरकी कृतियोंसे ज्यादा काम नहीं होगा, अन्तरकी प्रेरणासे होगा।

हमारा ध्यान इस तरफ रहता है कि हम कितने लोगोंको प्रेमसे खींच सकते हैं। हमारा अनुभव है कि कुछ-न-कुछ तो खींचे जाते हैं। यह 'हम' करते हैं सो बात नहीं। वह तो करनेवाला करता है। परंतु हम घूमते हैं तो हमारे लिये एक सिद्धि होती है, हमको एक साधना मिल जाती है, एक निमित्तमात्र कार्य हो जाता है। परंतु हमारा बोलना, बोलना नहीं है; हमारी चर्चा, चर्चा नहीं है और हमारा घूमना, घूमना नहीं है। ये सब कुछ भगवत्-प्रार्थना मात्र हैं। (ओलिंडियम पट्टू द० अरकाट ता० ६-७-५६)

त्रिभुवनके दीप कौन हैं ?

सधन सगुन सधरम सगन सबल सुसाइँ महीप। तुलसी जे अभिमान बिनु ते तिभुवन के दीप ॥

—गोस्वामी तुलसीदास

'तुलसीदासजी कहते हैं कि जो पुरुष धनवान्, गुणवान्, धर्मात्मा, सेवकोंसे युक्त, बलवान् और सुयोग्य स्वामी तथा राजा होते हुए भी अभिमानरहित होते हैं, वे ही तीनों लोकोंके उजागर होते हैं।'

* विनोबाजीने ३ जुलाईसे दिनमें दो बार पद-यात्रा शुरू कर दी है। पहले वे केवल सुबहके वक्त ही पद-यात्रा करते थे, अब शामको भी पद-यात्रा करते हैं।

परायी निन्दा

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

आज, भारतमें ही नहीं, विश्वमें शायद ही कोई ऐसा स्थान होगा, जहाँ कोई किसी की निन्दा नहीं करता हो । सम्भव है इस लोकके उस पार ही जानेपर ऐसा स्थान मिले । आज किसी भी स्थानपर चले जाइये, किसी भी देशमें जाइये, आपको ऐसा व्यक्ति बिरला ही मिलेगा जो दूसरेकी निन्दा करनेमें, दूसरेका अवगुण देखनेमें आन्तरिक सुखका अनुभव न करता हो । कोई भी समाचारपत्र उठा लीजिये, उसमें कालम-के-कालम दूसरोंकी निन्दासे भरे होंगे । यदि आप किसीकी निन्दा कभी न भी सुनना चाहें तो वह सुननेके लिये समाज आपको बाध्य करेगा ।

गली-कूचे, राह चलते, दूसरेकी आलोचना सुनते-सुनते कान भले ही थक जायँ, पर ऐसा स्थान मिलना बड़ा ही कठिन है, जहाँ मनुष्य शान्तिके साथ बैठकर केवल अपने ही दिलको टटोलता रहे; केवल भगवान्में ध्यान लगाता रहे । हरद्वारमें गङ्गाके पवित्र तटपर स्नान करते समय, ऋषिकेशके पवित्र काननमें पद-यात्रा करते समय, काश्मीरसे लेकर दक्षिण भारतके पवित्र मन्दिरोंमें दर्शन करते समय या अपने ही नगर काशीमें गङ्गातट-पर भी मुझे राम-नामके साथ-साथ किसी-न-किसीकी आलोचना ही सुननी पड़ी । कुछ न हुआ तो सास अपनी पड़ोसिनसे बहूकी निन्दा कर रही होगी, बहू अपने सासकी चीर-फाड़ कर रही होगी, पिता पुत्रका अपयश बखान रहा होगा, या यदि कोई न मिला तो आलोचनाके लिये सबसे सरल और सुलभ विषय देशकी सरकार अथवा उसके नेतावृन्द तो हैं ही । समाचारपत्र सार्वजनिक रुचिका ध्यान न रक्खें तो बिक्रीपर असर पड़ जाय । इसलिये वे स्तुतिको ताकपर रखकर हरेकके दरवाजेपर निन्दाकी कहानियाँ बटोरने जाया करते हैं ।

निन्दा तथा आलोचनाका क्षेत्र बड़ा व्यापक है । मनोविज्ञानका कहना है कि जब मनुष्यको अपनेमें कुछ कमीका आभास होता है, तब वह इस कमीको दूर न करके दूसरेमें उसी कमीकी खोज करता है और इससे उसको शान्ति मिलती है । पर एक बार दूसरेकी कमी-का पता चल जानेपर वह अपने मनके भीतर छिपी उस भावनाको प्रकट करता है, जिसे वह ठीकसे स्वतः समझ नहीं पाया था । उसे अपनी दुर्बलताएँ बुरी लगती हैं । उसके भीतरकी आत्मा उसे उन दुर्बलताओंसे खींच लाना चाहती है, पर नहीं ला सकती । इसलिये वह मनुष्य दूसरोंकी उन्हीं दुर्बलताओंको पुकार-पुकारकर सबके सामने रखकर एक प्रकारसे अपनी रक्षा करना चाहता है । इसी प्रकार एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और है । समाजके बन्धनके कारण मनुष्य बहुतसे पाप करना भी चाहता है, पर उसका साहस नहीं होता । विधानके भयसे भी वह अपनी अनेक वासनाओंको दबाये रहता है । पर जब उसे दूसरोंद्वारा किये गये उन्हीं कुकृत्योंकी जानकारी होती है, तब उसकी वासना-बुद्धिको केवल सुनकर या जानकर एक कामुक शान्ति, एक पैशाचिक संतोष प्राप्त होता है । अतृप्त वासनाओंका ऐसा पैशाचिक संतोष इंगलैंड, फ्रांस आदिके समाचारपत्रोंको देखनेसे ही प्रत्यक्ष हो जाता है । एक दिन मैंने लन्दनमें बैठकर वहाँसे कुछ समाचारपत्रोंका संवाद छाँटना शुरू किया । किन्हीं समाचारपत्रोंमें २४ कालममेंसे दस कालम ऐसे मिले जिनमें केवल दुराचार, भ्रष्टाचार, हत्या, चोरी आदिके संवाद थे । छः सात कालममें विज्ञापन थे और शेष सात कालमोंमें देश-विदेशके अन्य समाचार थे । धार्मिक या सांस्कृतिक ढंगका एक भी समाचार नहीं था । ऐसे समाचारोंका जनसमूहपर क्या

प्रभाव पड़ता है तथा उसकी बुद्धिपर कितनी गंदी छाप पड़ती है, इसका विवेचन शायद आवश्यक नहीं है।

कानपुरमें एक बहुत ही प्रसिद्ध ब्रह्मसमाजी सज्जन श्रीसेन थे। अपने ७९वें वर्षकी अवस्थामें उन्होंने मुझसे सन् १९४० में कहा था कि 'मैंने २५ वर्षसे कोई समाचारपत्र नहीं पढ़ा है और इसलिये नहीं पढ़ा कि उनके पढ़नेसे मनपर अनायास असांस्कृतिक तथा वासनामय बोझ ही पड़ता है, कोई लाभ नहीं होता।' श्रीसेन किसी सार्वजनिक सभामें तभी जाते थे, जब उनको यह विश्वास हो जाता था कि वहाँ केवल समाज-कल्याणकी ही बातें होंगी।

आज वातावरण इतना भ्रष्ट हो गया है कि मानवता भी भयभीत हो उठी है। एक ओर विज्ञानकी पराकाष्ठा हो रही है। वैज्ञानिक कल्पना कर रहे हैं और एक पुस्तकमें तो इस आधारपर भावी समाजकी रूपरेखा बना दी गयी है, कि सन् २०८६ में किसी महान् विदेशी शक्तिकी एक प्रयोगशाला तथा छोटी-सी पल्टन चन्द्रमापर रहेगी और दूसरी सूर्यमण्डलके अति निकट किसी व्योम-भूमिपर। विज्ञानका हौसला इतना बढ़ गया है कि वहाँ कोई राष्ट्र स्वर्गलोकपर भी आधिपत्यका सपना देख रहा है। वैज्ञानिक कल्पना तथा पुरातन युगके राक्षसी संकल्पोंमें भेद मिटता जा रहा है। वृत्रासुर, महिषासुर, शुम्भ, निशुम्भ, हिरण्यकशिपु, रावण—सभीने तो यही चाहा था कि नवग्रहको अपना सेवक बना लें। इन्द्रपुरीपर आधिपत्य कर लें। इनका जिस प्रकार संहार हुआ, वही इतिहास पुनः लिखा जानेवाला है। पर, आज मनुष्यके लिये जीवनकी दौड़, जीवनका संघर्ष ही सब कुछ है। वह उलटकर पीछे नहीं देख सकता, सँभलकर आगे नहीं चल सकता। एक वेग है, एक प्रवाह है, जो ढकेले लिये चला जा रहा है। आगे पहुँचनेकी इतनी जल्दी है कि अवकाश नहीं है कि भगवान्‌का नाम लिया जाय। आगे बढ़ना है तो विना दूसरेको धक्का दिये आगे बढ़ा ही नहीं जा सकता। आगे बढ़ना हो तो दूसरेकी छातीपर पैर रखकर, उसे रौंदकर आगे बढ़ो!

ऐसी दूषित भावना जब समाजमें व्याप्त हो जाती है, तब उसका वास्तविक विकास तथा उसकी वास्तविक प्रगति समाप्त समझिये। आज हम जिसे विकास कहते हैं उसे विकासकी व्याख्यामें भी लाना अनुचित है। जिस समाजमें पिता-पुत्र, पति-पत्नीका सम्बन्ध—केवल शिष्टाचारकी सीमातक भी न हो, जिस समाजमें वयोवृद्धोंका आदर न हो जिस समाजमें गुरुजनोंका सम्मान न हो, और जिस समाजमें केवल दूसरेका अवगुण ही देखा जाता हो, वह समाज मानवसमाज नहीं कहा जा सकता।

आधुनिक युग आवश्यकताओंका युग है। मनुष्य नित्य नयी-नयी आवश्यकताएँ उत्पन्न करता है और उनके पीछे पागलकी तरह घूमता है। केवल खुली हवा तथा स्वस्थ भोजन और अवकाशके समय भगवान्‌का चिन्तन, इतनी थोड़ी आवश्यकतासे मानव-जीवन नीरस समझा जाता है। प्रमोद तथा विनोदके लिये केवल मोटरकार, बिजली, रेडियो या रेफ्रिजरेटर तक ही सीमा नहीं बनती। पुराने युगमें विदेशमें भूखे शेरके सामने निस्सहाय आदमीको छोड़ देते थे और जब शेर उस अभागेको चीरकर खाता था, तब जनतामें करतल-ध्वनि होती थी और अट्टहास होता था। मैंने इटलीकी राजधानी रोममें वह विशाल खुला थियेटरहॉल देखा, जहाँ दो हजार आदमी बैठकर यह नृशंस नाटक देखते थे। वह स्थान खँडहर हो रहा है, पर उसके ईंट-पत्थर उस युगकी साक्षी दे रहे हैं। पर शेरके पेटमें जाते समयकी उस अभागेकी चीत्कारने रोमन साम्राज्यको नष्ट कर दिया और रोमकी कोमल स्त्रियाँ

तथा बच्चे बर्बरोंके जंगली खेमोंमें दास बनकर भूखों मरने लगे ! आज ऐसे नये वैज्ञानिक खेल निकले हैं, जिनमें आदमीका दम घुट-घुटकर निकलता है। प्रयोगके लिये, परीक्षाके लिये छोड़े गये अणुबमसे कितने प्राणी अंधे हो जाते हैं, कितने भयानक रोगोंके शिकार होकर मरते हैं, इसके आँकड़े रूस तथा अमेरिका दोनों छिपा रहे हैं।

आजकी दुनियाका क्या होगा, यह तो भगवान् जानें। पर हम भारतीय जो संसारकी सबसे प्राचीन सभ्यता, दर्शन तथा इतिहास लिये बैठे हैं, वे क्या कर रहे हैं इस संसारको बचानेके लिये ? संसारकी बात न सोचिये तो अपनेको ही बचानेके लिये क्या कर रहे हैं ? गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके रामायणका पाठ तो काफी होता है; पर किसीने उनकी इस उक्तिको भी ध्यानमें रखा कि 'परनिन्दा सम अघ न गरीसा।' आजका समाजशास्त्र इतना अभिमानी हो गया है कि पाप-पुण्यकी व्याख्या करना भी दोष समझा जाता है। नैतिकताकी नयी व्याख्या बन गयी है। मैंने लंदनमें एक व्याख्यानमें कहा था कि चारों ओर लाख प्रयत्न करनेपर भी चोरी-डकैती आदि जो अपराध बढ़ गये हैं, उसका एकमात्र कारण यह है कि समाजमेंसे पाप-पुण्यकी भावना लुप्त होती जा रही है। पहले हम एक छिपकिलीकी दुमपर छड़ी चलानेके समय यह सोचकर रुक जाते थे कि यदि दुम कट गयी तो पाप होगा। अब यह सोचकर छड़ी चला देते हैं कि छिपकिलीकी दुम विज्ञानके अनुसार कुछ विशेष कामकी नहीं होती, उसके कटनेके दुःखसे हमसे कोई सरोकार नहीं है।

यदि हमें समाजको सही मार्गपर लाना है तो सबसे पहले आत्मसमीक्षा करना सीखना होगा। दूसरेका ऐब देखनेके पहले हमको अपना दोष भी देखना होगा। एक विद्वान् मनोवैज्ञानिकने कुछ लोगोंकी परीक्षा लेनेके लिये स्याहपट्टीपर एक सफेद चौकोर खींचकर उसमें सफेद खड़ियासे रंग भर दिया, बीचमें काला बिन्दु लगा दी। फिर लोगोंसे पूछा कि तुमको क्या दिखायी देता है। लोगोंने एक स्वरसे कहा कि 'काला बिन्दु'। तब उस विद्वान्ने पूछा, 'और सफेद रंग क्यों नहीं ?'

यही दशा हमारी भी है। हम काला बिन्दु ही देख पाते हैं। सफेद चौड़ा फैला रंग नहीं। जरा-सा ऐब पहाड़-ऐसा दिखायी देता है।

'आप पाप को नगर बसावत सहि न सकत पर खेरो।'

पर दूसरेका गुण, चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो, दिखायी ही नहीं देता। बड़े-बड़े महापुरुष, बड़ी-बड़ी विभूतियाँ हमको आदिकालसे यही उपदेश देती आयी हैं—'आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति' अपना-आप ही दूसरेका मापदंड होना चाहिये। अपनी ही उपमासे पुरुष दूसरेके सम्बन्धमें सोचे। जो काम बुरा लगे, दूसरोंमें जो दोष दिखायी पड़े, उन्हें देखकर यह सोचना चाहिये कि उस परिस्थितिमें हम होते तो क्या करते। दूसरेकी निन्दा सुनना पाप इसलिये है कि हमारे कान अपनी निन्दा नहीं सुन सकते। हमारा यही दुर्भाग्य है। जरा हृदयके आइनेमें अपना मुँह तो देखना ही चाहिये। ऋषियोंने कहा है—'जो-जो बातें तुम्हें अपने लिये बुरी लगें, दूसरोंके साथ उनको मत करो'—

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'

आज हम स्वतन्त्र हैं। हमारा देश स्वतन्त्र है। हमें आगे बढ़ना है। पर यह बढ़ना दूसरेको गिराकर नहीं, स्वयं अपने पुरुषार्थसे बढ़ना है। अथर्ववेदकी उक्ति है—

'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।'

यदि पुरुषार्थ मेरे दायें हाथमें है तो विजय बायें हाथमें है।

जो इस प्रकारकी भावना लेकर जीवनमें आगे बढ़ता है, वही जीवनमें सफल होता है, आगे चलकर अपनी

सफलताका सुख भी भोग सकता है। चित्तकी शान्ति संसारके सभी वैभवोंसे बड़ी है। चित्तकी वास्तविक शान्तिके लिये सीधे सच्चे मार्गसे चलना होगा। असफलता हो, ठेस लगे, परेशानियाँ हों। पर वह जीवन कैसा, जिसके साथ ये विपत्तियाँ न लगी हों। ये सब तो शरीरके धर्मके साथ हैं।

'अगर आसानियाँ हों, जिंदगी दुश्वार हो जाये'

पर शान्ति और सुख भगवान्‌के चरणोंमें प्राप्त होता है। शरीर नष्ट हो जाता है, जीवन समाप्त हो जाता है, पर यश बना रहता है और क्षितिजके उस पार, परलोकमें भी आत्माकी शान्ति इस संसारके समूचे वैभवसे कहीं अधिक मूल्यवान् है।
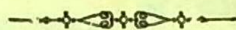
गोवध अवश्य बंद होना चाहिये

(श्रीजयप्रकाशनारायणजीका वक्तव्य)

[गत जुलाई १९५६को कलकत्तेमें श्रीजयप्रकाश-नारायणजीने पश्चिमी बंगगोरक्षापरिषद्‌द्वारा प्राप्त एक स्मरणपत्रके उत्तरमें एक वक्तव्य देते हुए कहा—]

गोहत्यापर प्रतिबन्ध लगाने या गोरक्षा करनेके प्रश्नको आम तौरसे धार्मिक दृष्टिकोणसे उपस्थित किया जाता है। नतीजा यह होता है जो लोग इस विचारसे सहमत नहीं होते, वे इस प्रश्नको वर्तमान बुद्धिवादी युगके लिये संकीर्ण तथा अविचारणीय बताकर टाल देते हैं। मेरे ख्यालसे किसी भी सभ्यताकी दृष्टिसे यह उचित नहीं है कि धार्मिक भावनाओं तथा जनताकी रुचिको पूर्णतः अमान्य कर दिया जाय। यदि ये भावनाएँ गलत ढंगपर आधारित हैं तो शिक्षा और विवेकके द्वारा इनका सुधार किया जाना चाहिये; किंतु जबतक ऐसी भावनाएँ मौजूद हैं, तबतक अन्य धर्मावलम्बियोंद्वारा ही नहीं बल्कि देशके कानूनके द्वारा भी इनका सम्मान होना चाहिये। धार्मिक भावनाओंके संघर्षसे समस्या जटिल हो सकती है, किंतु मेरा ख्याल है कि इस विशेष प्रश्नपर कोई भी धर्म अपनी सहमति नहीं देगा कि पूजा और धार्मिक समारोहके लिये गायकी हत्या होनी चाहिये। ऐसी परिस्थितिमें यदि कानूनद्वारा गोहत्या-पर प्रतिबन्ध लगा ही दिया जाता है तो इससे किसी भी धर्मके लोगोंकी धार्मिक भावना और विश्वासको किसी प्रकार आघात नहीं पहुँचना चाहिये।

× × ×

क्या यह कहा जा सकता है कि गोवधपर प्रतिबन्धसे किसी मानवीय मूल्यपर आघात पहुँचता है? वस्तुतः स्थिति ठीक इसके विपरीत है, यानी गोवधपर प्रतिबन्ध स्वयं एक महान् मानवीय मूल्यका अनुमोदन है।

गायके सम्बन्धमें हिंदुओंके विचार, मिथ्याविश्वास, अन्धविश्वास अथवा प्राचीन निषेधोंके परिणाम नहीं है।

मानवीय भावना एवं मानव-संस्कृतिके क्रमिक विकासकी विधिसे होकर हमारे पूर्वज अहिंसाके उच्च विचारतक पहुँचे, जो सिर्फ मानव-जातिके लिये ही नहीं, बल्कि समस्त जीवोंके लिये लागू था। सभी जीवोंके साथ क्रमिक तादात्म्य-स्थापनका यह महान् क्रम था। मेरी समझसे ऐसे पशुके रूपमें जिसे चोट नहीं पहुँचायी जानी चाहिये, गायका चुनाव मानवीय भावनाके विकास एवं सभी जीवोंके साथ आत्माके तादात्म्यका प्रतीक था। हमारे जीवनका यह उच्च दर्शन सर्वसाधारण-द्वारा उपयोग एवं हमारे पतनकालमें सम्भव है अन्धविश्वास बन गया हो; पर कोई कारण नहीं कि प्रबुद्ध जन भी इस उच्च विचारको तिलाञ्जलि दे दें।

इस मानवीय एवं नैतिक पहलूके अतिरिक्त गोसंरक्षणका आर्थिक पहलू भी खास एवं आवश्यक महत्त्व रखता है। यहाँ यह भी मैं पूर्ण विनम्रतापूर्वक कहूँगा कि हमारे देशका तथाकथित या आधुनिक जनमत छिछला है। गौ तथा गोवंश, उसका मल-मूत्र, उसकी मृत्युके उपरान्त उसका अवशिष्ट अंश हमारी कृषिप्रधान एवं ग्रामीण आर्थिक व्यवस्थाके अभिन्न अङ्ग-स्वरूप हैं।

जो मशीन एवं तथाकथित वैज्ञानिक तरीकोंसे खेतीका स्वप्न देखते हैं, वे पूर्णतः अवास्तविक संसारमें रहते हैं, जिसका इस देशकी परिस्थितियोंसे कोई ताल्लुक नहीं है। हमारी कृषि तथा ग्रामीण आर्थिक व्यवस्थाका भविष्य गाय और बैलपर मुख्यतः निर्भर है। इन आर्थिक पहलुओंके कारण गोसंरक्षण तथा पशुओंका नस्ल-सुधार सर्वोच्च कोटिके राष्ट्रिय दायित्व रूप ग्रहण कर लेता है। अतः यह बड़े खेदकी बात है कि पश्चिम बंगालसरकार गोवधकी समस्याके प्रति इतनी उदासीन रही है। यह सत्य है कि गोरक्षण तथा पशुओंके नस्लसुधारका प्रश्न गोहत्यापर प्रतिबन्धसे ही प्रारम्भ और समाप्त नहीं होता। पर इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि गोवधपर प्रतिबन्ध सम्पूर्ण समस्याके समाधानके लिये अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है और गोवधके इस मुख्य सवालको इस समस्यासे सम्बन्धित अन्य प्रश्न उठाकर टालना ठीक नहीं है।

पश्चिमीय बंग-गोरक्षा-परिषद्के स्मृतिपत्रमें यह भी कहा गया है कि पश्चिम बंगालमें इस प्रश्नपर वामपंथी जनमत कांग्रेसी जनमतसे अधिक उदासीन है। दुःखकी बात है कि वामपंथी विचारधारा सहानुभूति-प्रदर्शनमें बहुधा अञ्चलविशेषतक सीमित नहीं रहती; पर इसके सोचनेके ढंग संकीर्ण हैं। देशकी जनता—जिसका ८० प्रतिशत ग्रामीण अञ्चलोंमें निवास करता है—के जीवन एवं समस्याओंके अधिक सम्पर्कमें आनेसे वामपंथी विचारधारा अपनी संकीर्णतासे मुक्त हो सकेगी। वामपंथियोंको अपनी विवेकशीलता तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोणका भी गौरव है। मुझे लगता है कि भारतकी जैसी स्थिति है, उसमें गोवधपर प्रतिबन्धसे बढ़कर कोई अन्य चीज अधिक वैज्ञानिक एवं विवेकपूर्ण नहीं हो सकती।

अपना वक्तव्य समाप्त करनेके पूर्व मैं अवश्य कहूँगा कि गोवधके प्रश्नको राजनीतिसे पृथक् रक्खा जाय।

मनको सीख

मन, तोसों कोटिक बार कही।
समुझि न चरन गहे गोविंदके, उर अघ सूल सही॥
सुमिरन, ध्यान, कथा हरिजू की, यह एकौ न रही।
लोभी, लंपट, विषयिनि सौं हित, यौं तेरी निबही॥
छाँड़ि कनक-मनि रतन अमोलक, काँच की किरच गही।
ऐसौ तू है चतुर बिबेकी, पय तजि पियत मही॥
ब्रह्मादिक, रुद्रादिक, रबि-ससि देखे सुर सबही।
सूरदास भगवंत भजन बिनु, सुख तिहुँ लोक नहीं॥

—सूरदास

मेरा परिचय

मैं हूँ——भूलोंसे भरा, गुनाहोंका खज़ाना,
कमजोरियोंका पूरा भंडार।
अभिमानका पुतला, मान-बड़ाईका
अति लोभी, भोगवासनाओंका शिकार॥
मैं हूँ——शरीरका पुजारी, काम-क्रोध-
लोभादिका सेवक, भोगोंका गुलाम।
सदा चिन्ताओंमें डूबा हुआ,
अन्तर्ज्वालासे विदग्ध, वेदनाओंका धाम॥

इतनेपर भी—

मैं भगवान् हूँ

क्योंकि कुछ भोले लोग मुझे भगवान् बताते हैं, मानते हैं। मेरी भीतर-बाहरसे पूजा करते हैं और मैं—ना-ना करता हुआ भी, कभी-कभी उनका तिरस्कार तथा खण्डन करता हुआ भी, उसे स्वीकार कर लेता हूँ—बड़ी मीठी अमृत-घूँटकी तरह!

मैं महापुरुष हूँ

क्योंकि बहुत-से नर-नारी—पढ़े-लिखे, अधिकारी पुरुष भी मुझे महापुरुष मानते हैं, कहते हैं और बड़ी निष्ठासे प्रचार करते हैं। मैं अपनेमें महापुरुषत्वका अपलाप करता हुआ भी महापुरुषोंकी अनन्त महिमाका बखान करते हुए प्रकारान्तरसे उस महिमाका अपनेमें पूर्णरूपसे होना सिद्ध करता हूँ और बड़े सुखका अनुभव होता है मुझे महापुरुष कहलानेमें।

मैं संत हूँ

क्योंकि बहुत-से लोग मुझे पहुँचा हुआ संत मानते हैं, कहते हैं और प्रचार करते हैं। कभी-कभी कुछ खीझ-सी प्रकट करके, कभी-कभी अपने संत होनेका खण्डन करके और कभी-कभी तनिक-सा मुसकराकर मैं इसे स्वीकार कर लेता हूँ।

मैं प्रेमी हूँ

क्योंकि लोगोंके मन मेरे श्रीमुखसे निकली हुई प्रेम-सलिलधारामें बहकर मुझको असली प्रेमी माननेको बाध्य हैं। जब किसी प्रेम-प्रसङ्गपर बोलते समय मेरी बोली लड़खड़ा जाती है, आँखोंमें दो बूँद आँसू आ जाते हैं और मैं उन्हें रूमालसे पोंछने लगता हूँ या कभी-कभी जब मैं आँखें मूँदकर चुप हो जाता हूँ या मेरा शरीर आसनसे लुढ़क पड़ता है, तब तो चारों ओर आनन्दकी लहर दौड़ जाती है। मेरा 'प्रेम' रूप होना सिद्ध हो जाता है। स्त्री-पुरुष सभी मेरी ओर आकर्षित हो जाते हैं और मेरी कृपासे भगवत्प्रेम प्राप्त करना चाहते हैं। अहा! मैं मूर्तिमान् प्रेम हूँ!

मैं ब्रह्मनिष्ठ हूँ

क्योंकि जब मैं अजातवाद या विवर्तवादकी व्याख्या करते समय बड़े युक्ति-तर्कोंके साथ जगत्की सत्ताका सर्वथा अभाव अथवा रज्जुमें सर्पभ्रम या स्वप्न-प्रपञ्चकी भाँति जगत्को मिथ्या सिद्ध करता हूँ, तब लोग मुझे सर्वथा राग-द्वेषशून्य ब्रह्मनिष्ठ महात्मा मान लेते हैं और चारों ओरसे मेरी पूजा होने लगती है। नाम-रूपका सर्वथा अभाव सिद्ध करनेवाले मुझको अपने नाम-रूपकी वह पूजा प्यारी तो बहुत लगती है, परंतु मैं प्रकटमें यही कहता हूँ कि जगत् कभी बना ही नहीं।

मैं मस्ताना फकीर हूँ

जब मैं एक मात्र कौपीन पहने, नंगे छरहरे बदन, सिरकी लटें बिखेरकर, गरदन टेढ़ी करके चश्मेके अंदर दृष्टि स्थिर करके कुछ-कुछ गुनगुनाने लगता हूँ या बाँसुरीके स्वरोंमें उमर खयामकी रुबाइयाँ गाकर मस्त-सा हो जाता हूँ, उस समय लोग मेरी भावभङ्गिमा देखकर चकित हो जाते हैं और यही समझते हैं कि ऐसे मस्त औलिया फकीर तो बस ये ही हैं। और जब मैं मेरी कदमबोसीके लिये उमड़े हुए नर-नारियोंसे अपनेको बचाकर ठहाका मारता हुआ, छलाँग मारकर भाग छूटता हूँ और कुछ दूर जाकर विजयीकी भाँति बाँसुरी बजाने लगता हूँ, तब तो मेरी वह मस्ती सभीको मेरे कदमोंमें बरबस झुका देती है!

—एक कथित मस्त फकीर

मानसके रामकी झाँकी

(लेखक—पं० श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी)

अध्यात्मरहस्यके परम ज्ञाता, कुशल कलाकार और सनातन वैष्णव महात्मा तुलसीदासमें मानवचरित्र-चित्रणकी पूर्ण क्षमता तो थी ही; फिर जिन रामको उन्होंने अपना आराध्यदेव माना, उनमें मानव और दैव गुणोंको किस प्रकार पाया और सजाया, यह थोड़ा विचार करने योग्य विषय है । कालधर्मकी प्रेरणासे जहाँ पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंका स्थान कुछ नीचा होने लगा था और शंकरका अद्वैतवाद चल रहा था, इन परिव्राजक, गुप्त प्रचारक और नीति-निर्धारक महात्माका आविर्भाव हुआ । धर्मके द्वन्द्व-कालमें, तर्कमें नीति, भावना और आस्थाका पुट सम्हालकर देना होता है; पर ज्ञान बिना तर्कमें तथ्य कहाँ । उनका आदि गुरु कौन था, यह तो नीचे बताया जायगा; पर बाबा नरहरिदासके द्वारा उनको ज्ञान हुआ मनोजका, महेशका, रमेशका, महावीरका, शिवा और सीताका । सरस्वती-सिद्ध बालक वेद, पुराण और शास्त्रोंकी विजन-मनोरम वीथिकाओं-में विचरण करने लगा । कुशाग्र बुद्धि तर्ककी कसौटीपर कसकर मँज गयी । उन्होंने जान लिया कि महेश और रमेशका और उनके साथ-साथ महावीरका सम्बन्ध अतीव सगा है । यदि महेश रमेशमें रमे हैं तो रमापति गिरिजापतिके अनन्य भक्त हैं । अपनी भक्ति, प्रेम और सेवाकी भावनाएँ उन्होंने बजरंग, विभीषण, केवट, जटायु, लक्ष्मण, जनक और भरतद्वारा लक्षित कर डालीं और अमर कथानक रामचरितमानसका निर्माण किया । तर्क और नीतिसे भरा यह ग्रन्थ भारतीकी अमरनिधि है ।

कहना अयुक्त न होगा कि गोस्वामीजीका मन कोमल और भावुक था । मानवसे मानवीमें उनकी श्रद्धा आदिम थी । उनकी जैसी आत्माएँ क्रिया कहीं करती हैं और सोचती कहीं हैं । मातृप्रेमसे वञ्चित बालक मानवद्वारा पालित हुआ और गुरुके श्रीचरणोंमें जा बैठा । गुरुद्वारा आदिशक्ति जगज्जननी जगदम्बाका आभास मिला कि जिनके बिना आदिदेवका कार्यकलाप भी असम्भव है । बालकके सहज हृदयमें जननी और मानवीने अपना स्थान बनाया । पर जननीका मूर्तरूप तो कहीं-ही-कहीं मिला; हाँ एक बार, अनेक बार और सदाके लिये छाप छोड़ जानेवाला, मानवी रूप मिला उनको अपनी प्रेयसी रत्नावलीमें । आसक्ति भी योगकी क्रिया है और गोस्वामीजी भी अपनी रमणीमें सर्वस्व दे रम गये । यहाँतक कि शवको नौकारूप और सर्पको रस्सीरूप देखा । वही रत्नावली उनकी आदि गुरु थी, आदिशक्ति थी, ज्ञान-गरिमा थी और वैराग्य-संदीपनी थी । प्रभाव यह होता है वह 'जोगी जटिल अकाम' शिवको शिवासे बाँध देते हैं और भगवान् रामको सीतासे तथा लक्ष्मणको रामकी भक्ति-क्रिया बना देते हैं ।

अब अपने विषयपर आ जायँ, जो रामका नाम और स्वरूप है और नर-नारायण-मिश्रित चरित्र है । नारायण-मिश्रित चरित्र केवल उनके लिये है, जो रहस्यके ज्ञाता थे; पर अहैतुक कौतुकी जहाँ-तहाँ अपनी लीलाएँ और मायाका प्रसार दिखा ही देते थे । पहले बात हम शंकरकी करेंगे; क्योंकि रामनामकी महिमा उन्हींके द्वारा प्रसारित हुई । जो संसार-संहारकर्ता होते हुए भी लोक-कल्याणके विधायक हुए, उन शंकरका स्वरूप देखिये—

एक रूप तो यह है—

'जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष ।'

सिवहि संभु गन करहिं सिंगारा । जटा मुकुट अहि मौरु सँवारा ॥
कुंडल कंकन पहिरे ब्याला । तन बिभूति पट केहरि छाला ॥
ससि ललाट सुंदर सिर गंगा । नयन तीनि उपबीत भुजंगा ॥
गरल कंठ उर नर सिर माला । असिव बेष सिव धाम कृपाला ॥
कर त्रिसूल अरु डमरु बिराजा । चले बसहँ चढ़ि बाजहिं बाजा ॥

तथा

बरु बौराह बसहँ असवारा । ब्याल कपाल बिभूषन छारा ॥
तन छार ब्याल कपाल भूषन नगन जटिल भयंकरा ।
सँग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि बिकट मुख रजनीचरा ॥

यह हुआ अशिव और भयंकर वेश । पर ऐसा वेश क्यों-कर सुन्दर, सुखद और महाकल्याणकर हो गया ? किसने कौन-सा जादू कर दिया ? कहाँसे जगत्-तारणके गुण और जगद्वन्द्यकी उपाधि श्रीशंकरको प्राप्त हुई ? देखिये, शंकरजी स्वयं कहते हैं—

'जिन्ह कर नामु लेत जग माहीं । सकल अमंगल मूल नसाहीं ॥
करतल होहिं पदारथ चारी । तेइ सिय राम कहेउ कामारी ॥

सहस नाम सम सुनि सिव बानी । जपि जेईं पिय संग भवानी ॥

रामरामेति रामेति रमे रामे मनोरमे ।

सहस्र नाम तातुल्यं रामनाम वरानने ॥

कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा । सावर मंत्र जाल जिन्ह सिरिजा ॥
अनमिल आखर अरथ न जापू । प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू ॥
बंदउँ राम नाम रघुवर को । हेतु कृसानु भानु हिमकर को ॥
बिधि हरि हरमय बेद प्रान सो । अगुन अनूपम गुन निधान सो ॥
महामंत्र जोइ जपत महेसू । कासीं मुकुति हेतु उपदेसू ॥
जासु कथा कुंभज रिषि गाई । भगति जासु मैं मुनिहि सुनाई ॥
सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा । सेवत जाहि सदा मुनि धीरा ॥
अस बिचारि संकर मतिधीरा । चले भवन सुमिरत रघुबीरा ॥
चलत गगन भै गिरा सुहाई । जय महेस भलि भगति दृढ़ाई ॥
अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना । राम भगत समरथ भगवाना ॥
तुम्ह पुनि राम राम दिन राती । सादर जपहु अनँग आराती ॥
हर हियँ राम चरित सब आए । प्रेम पुलक लोचन जल छाए ॥

मगन ध्यानरस दंड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह ।
रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह ॥

बंदउँ बाल रूप सोइ रामू । सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू ॥
मंगल भवन अमंगल हारी । द्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी ॥

चिदानंद सुख धाम सिव, बिगत मोह मद काम ।
बिचरहिं महि धरि हृदय हरि सकल लोक अभिराम ॥

सिव समुझाए देव सब जनि आचरज भुलाहु ।
हृदय बिचारहु धीर धरि सिय रघुबीर बिआहु ॥

नाम प्रभाउ जान सिव नीको । कालकूट फल दीन्ह अमी को ॥
नाम रूप दुइ ईस उपाधी । अकथ अनादि सुसामुझि साधी ॥
को बड़ छोट कहत अपराधू ।
अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा ॥
मोरें मत बड़ नामु दुहू तें ।

ब्रह्म राम तें नामु बड़ बरदायक बरदानि ।
रामचरित सत कोटि महुँ लिअ महेस जियँ जानि ॥

प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि ॥
मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं ।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं ॥
सोइ राम ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी ।
अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुल मनी ॥

अब यह निर्विवाद सिद्ध हो गया कि राम-नामसे अमङ्गलका नाश हो जाता है; अशिव शिव हो जाता है और जापकमें (भक्तमें) मुक्ति देनेकी (भगवान्‌की) सामर्थ्य आ जाती है—

'राम भगत समरथ भगवाना ।',

यही नहीं, यदि भक्त प्रेमसे भगवान्‌का नाम लेकर प्रसादरूपसे विष भी पिये तो वह अमृत हो जाता है—

'कालकूट फल दीन्ह अमी को ।'

इस चिरंतन राम-नामके जापसे शंकर भगवान्‌को क्या प्राप्त हुआ ? एक बार नहीं उनके अनेक बार दर्शन हुए, जो—

राम सच्चिदानंद दिनेसा । नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा ॥
सहज प्रकास रूप भगवाना । नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना ॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना । परमानंद परेस पुराना ॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू । मायाधीस ग्यान गुन धामू ॥
जासु सत्यता तें जड़ माया । भास सत्य इव मोह सहाया ॥

इतना ही नहीं, और सब तो इस प्रकार कहने लगे—

'सुंदर सुखद सकल गुन रासी ।
ए दोउ बंधु (श्रीराम और श्रीलक्ष्मण) संभु उर बासी ।'

'जनक-सुकृत मूरति बैदेही । दसरथ-सुकृत रामु धरें देही ॥
इन्ह सम काहुँ न सिव अवराधे । काहुँ न इन्ह समान फल लाधे ॥
'राम करौं केहि भाँति प्रसंसा । मुनि महेस मन मानस हंसा ॥
'हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्री सागर दई ।
तिमि जनक सिय रामहि समरपी बिस्व कल कीरति नई ॥

पर स्वयं भगवान् राम यों कहते हैं—

जपहु जाइ संकर सत नामा । होइहि हृदय तुरत बिश्रामा ॥
कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें । अस परतीति तजहु जनि भोरें ॥
'जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी । सो न पाव मुनि भगति हमारी ॥

अब यह तो अपने-आप विचार लेनेकी बात है कि कौन भक्त है और कौन भगवान् । जब श्रीभगवान् रामने अपनी समस्त भक्तिका फल श्रीशंकरजीके अधीन कर दिया, तब उनके पास रह क्या गया ?

अब तो भगवान् शंकरको सब कुछ प्राप्त हो गया । तब उनका स्वरूप क्या हो गया ? और संसारमें उनको क्या स्थान प्राप्त हो गया ? प्रत्येक संसारी जीव तो वह स्थान पा ही कैसे सकता है । अंग्रेजीमें कहते हैं—First deserve, then

desire.') शंकर भगवान् आदि गुरु हैं, अजन्मा हैं और भोगरहित हैं। महात्मा तुलसीदासमें जो बड़ा गुण था वह यह कि हृदयस्थलमें जैसा जिसका चित्र स्थापित करते थे, उसको उसी प्रकारसे अनेक स्थलोंपर अङ्कित करते चले जाते थे। भूल-चूकसे दूर थे।

'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्तिसिद्धाःस्वान्तःस्थमीश्वरम्॥
वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते॥
कुंद इंदु सम देह उमा रमन करुना अयन।
जाहि दीन पर नेह करउ कृपा मर्दन मयन॥
हमरें जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥
तुम त्रिभुवन गुरु बेद बखाना।
प्रभु समरथ सरबग्य सिव सकल कला गुन धाम।
जोग ग्यान बैराग्य निधि प्रनत कलप तरु नाम॥
संकर जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥
संभु गिरा पुनि मृषा न होई। सिव सर्बग्य जान सबु कोई॥
जगदातमा महेस पुरारी। जगत जनक सब के हितकारी॥

उनका (शिवजीका) तप-मँजा-स्वरूप यह था—

निज कर डासि नाग रिपु छाला। बैठे सहजहिं संभु कृपाला।
कुंद इंदु दर गौर सरीरा। भुज प्रलंब परिधन मुनि चीरा॥
तरुन अरुन अंबुज सम चरना। नख दुति भगत हृदय तम हरना॥
भुजग भूति भूषन त्रिपुरारी। आननु सरद चंद छबि हारी॥
जटा मुकुट सुर सरित सिर लोचन नलिन बिसाल।
नील कंठ लावन्य निधि सोह बाल बिधु भाल॥
चिदानंद सुख धाम सिव-बिगत मोह मद काम।
बिचरहिं महि धरि हृदयँ हरि सकल लोक अभिराम॥

रामचरितमानसकी कथा तो श्रीशंकरजीके हृदयमें स्वतः प्रवहमाण है। श्रीराम भगवान् शंकरके इष्टदेव हैं।

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥
सोइ सिव काक भुसुंडिहि दीन्हा।
कीन्हि प्रस्न जेहि भाँति भवानी। जेहि बिधि संकर कहा बखानी॥
रामचरित मानस मुनि भावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन॥
रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाखा॥

ऊपर तीन संकेत किये जा चुके हैं। एक राम-सीताका कि महात्मा तुलसीदासने आदिदेव और आदिशक्तिको साथ बाँधा है। दूसरा राम-लक्ष्मणका कि रामकी भक्ति-क्रिया लक्ष्मण थे। और तीसरा कि शिवजीको रामका बालरूप प्रिय था। महात्मा तुलसीदास आरम्भमें ही कहते हैं—'भवानी-शंकरौ वन्दे' 'उमा रमन' 'भवानी शंकर' इत्यादि और—

जिन्ह कर नामु लेत जग माहीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं॥
करतल होहिं पदारथ चारी। तेइ सिय राम कहेउ कामारी॥

अर्थात् वे ही सिया-राम हैं, अकेले राम नहीं। लक्ष्मणके विषयमें कहा जा चुका है।

ए दोउ बंधु संभु उर बासी।

और भी देखिये—

स्याम गौर मृदु बयस किसोरा। लोचन सुखद बिस्व चित चोरा॥
पीत बसन परिकर कटि भाथा। चारु चाप सर सोहत हाथा॥
तनु अनुहरत सुचंदन खोरी। स्यामल गौर मनोहर जोरी॥
सोभा सींव सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा॥

तथा—

'सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि काम उपमा लघु सोऊ॥

और—

रुचिर चौतनी सुभग सिर मेचक कुंचित केस।
नख सिख सुंदर बंधु दोउ सोभा सकल सुदेस॥

रामके बालरूपके विषयमें कहा जा चुका है—

बंदौं बाल रूप सोइ रामू।

पर जब भक्तकी सहायताका बाना (स्वरूप) होता था, तब 'धनु सायक' वाला स्वरूप ही सामने आता है, अर्थात् पूर्ण प्रस्फुटितरूप गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं।

प्रनवउँ पवन कुमार खल बन पावक ग्यान घन।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर॥

तथा—

पुनि मन बचन कर्म रघुनायक। चरन कमल बंदौं सब लायक॥
राजिव नयन धरें धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥

यहींपर भगवान् रामका स्वरूप (पूर्ण प्रस्फुटितरूप) देखिये—

नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन बारिज नयन।
.................................॥
नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम॥
सरद मयंक बदन छबि सींवा। चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा॥
अधर अरुन रद सुंदर नासा। बिधुकर निकर बिनिंदक हासा॥
नव अंबुज अंबक छबि नीकी। चितवनि ललित भावती जी की॥
भृकुटि मनोज चाप छबि हारी। तिलक ललाट पटल दुतिकारी॥
कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा। कुटिल केस जनु मधुप समाजा॥

उर श्रीवत्स रुचिर बन माला । पदिक हार भूषन मनि जाला ॥
केहरि कंधर चारु जनेऊ । बाहु बिभूषन सुंदर तेऊ ॥
करि कर सरिस सुभग भुज दंडा । कटि निषंग कर सर कोदंडा ॥

तडित बिनिंदक पीत पट उदर रेख बर तीनि ।
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भवँर छबि छीनि ॥

पद राजीव बरनि नहिं जाहीं । मुनि मन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं॥
बाम भाग सोभित अनुकूला । आदि सक्ति छबि निधि जग मूला॥

तथा—

ब्यापक ब्रह्म अलख अबिनासी । चिदानंद निरगुन गुनरासी ॥
मन समेत जेहि जान न बानी । तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥
महिमा निगम नेति कहि कहई । जो तिहुँ काल एकरस रहई ॥

सोइ सरबग्य राम भगवाना ।

राम सच्चिदानंद दिनेसा । नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा ॥
सहज प्रकास रूप भगवाना । नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना ॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना । परमानंद परेस पुराना ॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू । मायाधीस ग्यान गुन धामू ॥
जासु सत्यता तें जड़ माया । भास सत्य इव मोह सहाया ॥

अब इतना और देख लिया जाय कि वह बालरूप कौन-सा था; जिसपर 'अकाम' भगवान् शंकर रीझ गये थे ?—

काम कोटि छबि स्याम सरीरा । नील कंज बारिद गंभीरा ॥
अरुन चरन पंकज नख जोती । कमल दलनि बैठे जनु मोती ॥
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे । नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे॥
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा । नाभि गँभीर जान जिन देखा ॥
भुज बिसाल भूषन जुत भूरी । हिय हरि नख अति सोभा रूरी॥
उर मनि हार पदिक की सोभा । बिप्र चरन देखत मन लोभा॥
कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई । आनन अमित मदन छबि छाई॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे । नासा तिलक को बरनै पारे ॥
सुंदर श्रवन सुचारु कपोला । अति प्रिय मधुर तोतरे बोला ॥
पीत झगुलिआ तन पहिराई । जानु पानि बिचरनि मोहि भाई ॥
रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा । सो जानहिं सपनेहुँ जिन्ह देखा ॥

यह थे वे 'नररूप हरि' 'मंगल भवन अमंगल हारी' और 'सहस्रनामतातुल्यम्', जिनको शंकरजी हृदयमें लिये फिरते हैं और जिनको शंकरसे प्यारा अन्य कोई नहीं ।

अनधिकारी

निज सुख-लेश-वासनाका जिनके मनमें अत्यन्ताभाव ।
केवल कृष्ण-सुखेच्छा-जीवन यह पवित्र श्रीगोपीभाव ॥
सोचा था—इन गोप-देवियोंके समान कर सब कुछ दान ।
सुख पहुँचाऊँगा सुखसागरको, कर निज सुखका बलिदान ॥
मन, प्रति इन्द्रिय, रोम-रोम उनकी सेवा कर होंगे धन्य ।
दुर्लभ ब्रह्मस्पर्श प्राप्तकर सुखसागरके सेवाजन्य ॥
सखी-भाव अलभ्य पाकर मैं, पाकर नित सेवा-अधिकार ।
दिव्य धाममें वास करूँगा, तरकर मायासिंधु अपार ॥
पर जब मनमें घुस देखा तो दीखे भरे अनन्त विकार ।
भोग-वासना नाच रहीं सब, कृष्णप्रेमका बाना धार ॥
कहाँ कामनाग्रस्त नीच मैं काम, मोहका क्रीत गुलाम ।
कहाँ वेद-ऋषि-वाञ्छित पावन श्रीगोपीपद अति अभिराम ॥
कुत्सित काम-वासना मनमें लेकर गोपीपदका नाम ।
अपने काले कर्मोंसे मैं करने चला उसे बदनाम ॥
जो आगे बढ़ता तो झुलसा जाता, पाता दुःख अपार ।
भीषण नरकयन्त्रणा पाता सहज पहुँचकर नरकागार ॥
बचा लिया पर प्रभुने अपनी सहज दयाका कर विस्तार ।
सिद्ध कर दिया—'कामी जनका नहीं प्रेमपथमें अधिकार ॥'

जपका रहस्य

(लेखक—श्रीरामलालजी पहाड़ा)

लोगोंको 'जप' शब्दसे सहसा मालाका स्मरण होता है। उनके मनमें यह जमा हुआ है कि इष्टदेवका नाम या मन्त्रजप केवल माला लेकर उच्चारण करते हुए बैठकर निश्चित संख्या पूरी कर लेना है। इस रीतिसे आजकल इस भारत-भूमिमें करोड़ोंकी संख्यामें जप हो रहे हैं। प्राचीन साहित्य भी इसका समर्थन करता है—अमुक मन्त्र या नाम-जपसे अमुक लाभ होता है। यथा—

'गायत्रीजपकृद्भक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते।'

—आदि वाक्य शास्त्रोंमें कहे गये हैं। यद्यपि इन वाक्योंपर संदेह करना अनुचित है, तथापि इनपर विचार करना सर्वथा वाञ्छनीय है।

जपके सम्बन्धमें सूत्रकार कहता है—'तज्जपस्तदर्थ-भावनम्'। जिस इष्टदेवके नामका या मन्त्रका जप किया जाय, उसके आशय, हेतु या प्रयोजनका भी विचार किया जाय। माला लेकर मन्त्रका या नामका निश्चित संख्यामें उच्चारण करना एकाङ्गी जप है।

सम्भव है, इस विधिसे कालान्तरमें चित्त एकाग्र होकर विचारमग्न होने लगे। इस प्रकार निर्मल विचारसे चित्तका शुद्ध होना सहज है। शुद्ध चित्तमें इष्टदेवका ध्यान सुगम हो जाता है। ध्यानद्वारा इष्टदेवकी कृपा पाना सम्भव है। यदि जप करते समय अर्थकी (हेतु, आशय, प्रयोजनकी) भावना नहीं रही तो बहुत देरसे फल होता है। इस भावनापर चित्तको जमाना ही यथार्थ ढंग है। यह सात्त्विक कार्य है और सत्त्वगुणप्रधान वृत्तिवाले ही कर सकते हैं। अधिकांश मनुष्य रजोगुण और तमोगुणसे व्याप्त हैं। अतः उनका किया हुआ जप यथार्थ फल नहीं देता।

तामस बहुत रजोगुन थोरा।
कलि प्रभाव विरोध चहुँ ओरा॥

युगके प्रभावसे मनुष्योंका काम अनधिकार चेष्टाकी कोटिका हो रहा है। इसीसे जप करनेके उपरान्त भी मनको शान्ति नहीं मिलती। आचार्योंने जपकी तीन विधियाँ बतायी हैं। जब बुद्धिसे अक्षरश्रेणी और स्वरयुक्त पदका उच्चारण करके अर्थकी भावना रक्खी जाती है, तब 'मानसजप' कहलाता है। जब जिह्वा-ओष्ठको किंचित् चलाकर, मनमें इष्टदेवका ध्यान रखकर किंचित् श्रवणयोग्य उच्चारण होता है, तब 'उपांशु जप' कहलाता है और जब वैखरी वाचासे उच्चारण किया जाता है, तब वह 'वाचिक जप' कहलाता है। इस तरह 'वाचिक' से 'उपांशु' और 'उपांशु' से मानसिक जप अधिक श्रेष्ठ बताया जाता है।

यह परम्परागत रूढ़ि है। इसमें अधिकांश जनता फँसी हुई है। कहा गया है—'गतानुगतिको लोकः।' संसार ही भेड़िया-धसानका काम करता है। बहिरङ्गवालोंका अनुकरण-प्रिय होना सहज है, इसलिये अधिकांश जनता मनमानी करने लग जाती है। उनको विचार करना कठिन जान पड़ता है।

यहाँ नवीन ढंगसे जपपर विचार किया जाता है। 'जप' शब्दका विश्लेषण करनेसे 'ज' से जन्मजात और 'प' से पालन करना प्रतीत होता है। अतः जपका हेतु अपनी जन्मजात वस्तुका पालन करना है। शरीरनिर्माणमें जठराग्नि, वीर्याग्नि और ज्ञानाग्नि (चेतना) का आरम्भ हुआ है। वेदमन्त्रमें कहा है—

'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं होतारं रत्नधातमम्।'

'मैं यज्ञके (जीवनके) ऋतु अनुसार काम करनेवाले पूर्व ही रक्खे हुए (स्थित) अग्निदेवकी स्तुति या पूजा करता हूँ। वह आवश्यक सामग्री (आहुति) डालनेवाला और रत्न (श्रेष्ठ वस्तु) धारण करनेवालोंमें सर्वोत्कृष्ट है। हमारे शरीरोंमें अग्निदेव तीन रूपोंमें पूर्व ही स्थित है।'

आयुर्वेदानुसार खान-पानको शुद्ध रखकर जठराग्निका; संयम, नियम या ब्रह्मचर्यसे वीर्याग्निका और ईश्वरार्चन, ध्यान या स्वाध्याय (वेदपाठ आदि) से ज्ञानाग्निका संरक्षण करना चाहिये। इनका यथोचित संरक्षण करना ही 'जप' का ठीक ढंग होगा। जपमें निरन्तर स्मरण करते रहना आवश्यक है और भावनाके प्रतिकूल कामोंको सर्वथा छोड़ देना। यदि बालकोंको कुछ वस्तु (पुस्तक, कलम, पट्टी, कापी, कुर्ता, चप्पल आदि) लानेका वचन दे दो तो वे उस वस्तुका निरन्तर स्मरण करते और माता-पिताको तंग किया करते हैं। उनको तो उस वस्तुकी लौ लग जाती है, मानो वे उस वस्तुका जप करते हैं। यद्यपि यह निकृष्ट जप है, तथापि विधि ठीक है। इसी लौसे हमको अपनी पूर्व स्थित तीनों अग्नियोंका संरक्षण करनेमें सचेत रहना चाहिये।

इन अग्नियोंके सिवा शरीर-रचनामें पञ्च महाभूत (तत्त्व) भी उपस्थित रहते हैं। प्रत्येक तत्त्व अपने गुणका अधिष्ठान है। पृथ्वीमें क्षमा, जलमें नम्रता, शीतलता, अग्निमें शुद्धता, वायुमें अनासक्ति, गतिशीलता, आकाशमें निर्लेपता है। ये सब हमारे शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए हैं। नहीं, इनका मिश्रण ही हमारा शरीर है। अतः इन गुणोंका विकास करना आवश्यक है। विषयोंमें फँसकर इन गुणोंको दबा देना ही दुःखों और व्याधिका कारण हो जाता है। इनका संतुलन रखनेसे मनुष्यका मन स्थिर होकर काम करता है। इन्हीं तत्त्वोंसे ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंका आविर्भाव हुआ है। इन तत्त्वोंका संतुलन रखनेसे इन्द्रियाँ संयमित रहती हैं। इन्द्रियोंके संयमसे मनमें प्रसन्नता आती है। प्रसन्नतासे सब दुःखोंका नाश हो जाता है; क्योंकि प्रसन्न चित्तसे बुद्धि स्थिर होती है और मनुष्य सुखी होता है। जगमें अर्थकी भावनाहीन मनुष्यका मन अशान्त रहता है। अशान्त कभी सुखी नहीं हो सकता। तीनों अग्नियोंका संरक्षण करके पञ्च-तत्त्वोंका संतुलन रखकर जीवन-निर्वाहार्थ काम करते रहना जीवनोपयोगी जप है, जो निरन्तर करनेका है।

आनन्दकी खोज !

[पुराणकालकी एक चिरस्मरणीय मर्मस्पर्शी घटना]

(लेखक—पं० श्रीराजकुमारजी शर्मा एम्० ए०, प्रभाकर, साहित्यरत्न)

महाराज श्रीपालकी कन्या राजकुमारी सुवासिनीके अलौकिक सौन्दर्यकी कीर्ति दूर-दूरतक फैल गयी थी। देश-विदेशके अनेक सम्राट् उसे पानेके लिये लालायित थे। सुवासिनी उछलते हुए यौवनके सोपानोंपर धीरे-धीरे चढ़ती जा रही थी। अतः महाराज चाहते थे कि सुवासिनी अपने मनोऽनुकूल पतिका वरण करके संसारमें प्रवेश करे।

एतदर्थ महाराजने स्वयंवरकी आयोजना की। लगभग सभी देशोंके नरेश सुवासिनीके स्वयंवरमें उत्सुकतासे निमन्त्रित होकर आये। महाराजने सादर अभ्यर्थना करके, उचित स्थान दे, सभीको सम्मानित किया।

नियत समयपर प्रतिहारीने सभामें राजकुमारी सुवासिनी-के आनेकी घोषणा की। सभी नरेश अपने-अपने आसनोंपर भलीभाँति बैठ अपने-अपने सुसज्जित अङ्गोंका सूक्ष्म निरीक्षण करने लगे। उसी समय कञ्चुकीने विधिवत् दण्डावनत हो कहा—महाराज! यदि आज्ञा हो तो आगत सज्जनोंके सम्मुख सुवासिनी अपना अभिलषित प्रकट करें!

महाराजने अनुज्ञा दी। सुवासिनी कञ्चुकीके साथ एक उच्च आसनपर आकर खड़ी हो गयी। कञ्चुकीने निवेदन आरम्भ किया—

'मान्य अतिथिगण!

आप सभी नरेश अनेक देशोंके स्वामी, सभी प्रकारके वैभव और ऐश्वर्यसे परिपूर्ण हैं। सभी प्रकारकी क्षमता भगवान्ने आपको प्रदान की है और आप सभी नरेश सुवासिनीको अर्द्धाङ्गिनी बनानेको उत्सुक हैं, इसीलिये महाराजके निमन्त्रणपर यहाँ पधारे हैं। राजकुमारी आनन्द और स्वतन्त्रताकी खोजमें व्यग्र हैं। यदि आपलोगोंमेंसे किसीने इनको प्राप्त किया हो तो बतायें! जिसने आनन्द खोज लिया हो, जो अपने जीवनका आप स्वामी हो, वही भाग्यशाली राजकुमारी सुवासिनीका पाणिग्रहण करेगा।'

सभी नरेश उठकर खड़े हो गये। अभिमानसे उनके मस्तक ऊपर उठ रहे थे। उन्होंने एक साथ कहा—'कञ्चुकी! राजकुमारीसे कहो, हम सभी नरेश हैं। ऐश्वर्य अहर्निश हमारे चरणोंमें लुढ़कता है, दीन होकर खड़ा रहता है। अधिकार सदा आदेशकी प्रतीक्षामें अवनत रहता है। हम अन्नदाता—याचक-प्रभु हैं। स्वामित्व हमारा अधिकार है। ऐश्वर्य, वैभव और अधिकारके साथ ही आनन्दका उद्भव होता है।'

राजकुमारीने उत्तर दिया—माननीय नरेशोंका स्वामित्व उनका अपना कहाँ है। वह तो प्रजासे प्राप्त है। उनका सारा जीवन शासनके कठोर नियमोंके अधीन संचालित होता है। अधिकार और ऐश्वर्य राजाओंको निजत्वसे नहीं, प्रतिनिधित्वसे प्राप्त होता है। दूसरोंकी दी हुई वस्तुमें आनन्द कहाँ रहता है।

सभी नरेश अप्रतिभ थे, अधोमुख और निरुत्तर!

सभामें सन्नाटा था । कञ्चुकीने पुनः घोषणा की—अब कोई भी व्यक्ति, जो राजकुमारी सुवासिनीके अभिलषित-को पूरा करे, राजकुमारीका पाणिग्रहण कर सकता है ।

पथ खुल गया था ।

सम्मानित व्यापारियोंका दल सामने आया । कञ्चुकीने पूछा—आप क्या कहते हैं ?

'देवीसे निवेदन करो'—व्यापारियोंने कहा—'हम स्वतन्त्र हैं और अपने स्वामी भी । हम किसीके अधीन होकर व्यापार नहीं करते । स्वाधीन बुद्धिबल ही हमारा जीवन है । लक्ष्मी हमारी सहचरी है और लक्ष्मीके साथ ही आनन्दका संयोग होता है ।'

राजकुमारीने उत्तर दिया—तुमलोग अपने जीवनके स्वामी कहाँ हो ! तुम्हारा जीवन तो धनकी अधीनतामें बीतता है । तुम्हारी स्वाधीन बुद्धि और तुम्हारा आनन्द भी धनके हानि-लाभके साथ बनता-बिगड़ता है ।

बात सच थी । व्यापारी हार मानकर बैठ गये ।

सेनानियोंके वक्षःस्थल सदा विजयसे फूले रहते हैं । उन्होंने आगे बढ़कर कहा—'राजकुमारी ! हमारी स्वाधीन असियाँ विद्युत्‌की तरह एक बार चमककर जब शत्रुओंके उन्नत वक्षःस्थलोंको चीरकर विजय-माल हमारी कण्ठमें धारण कराती हैं, हमारा मन आनन्दके पारावारमें डूब जाता है ।'

पर सुवासिनीने कहा—'वह सब तो क्षणिक है; सेनानी ! क्षणभर बाद ही जब वह उन्माद ढल जाता है, तब निरपराध मानवोंकी हत्याका अनुपात हृदयमें दुःखकी ज्वाला धधकाकर सिसक उठता है ।'

इस सत्यका प्रतिवाद कठिन था । सेनानी मौन थे और सभा नीरव ।

अब सभाके पण्डितलोग उठ रहे थे । वे आचार्य थे । उनकी विद्या और उनका पाण्डित्य जगत्प्रसिद्ध था ।

राजकुमारीने प्रश्न किया—'पूज्यवर, आप ?

'कुमारी !'—पण्डितोंने उत्तर दिया—'हमलोग पण्डित हैं। आत्मज्ञान ही हमारा जीवन है । उसीका प्रकाश हम अहर्निश जन-साधारणको दिया करते हैं । कारण, एकमात्र हमींलोग ज्ञानके स्वामी हैं । हमारे इस व्यवसायमें कहीं भी पराधीनता नहीं । अज्ञान दुःखका मूल है और ज्ञान आनन्दप्राप्तिका साधन ।'

'सत्य है, पूज्यवर !' राजकुमारीने उत्तर दिया—'पर आप भी तो अपने जीवनके स्वामी नहीं, पूर्ण स्वतन्त्र नहीं । आपके जीवनमें आनन्द कहाँ ? राग-द्वेष, मान-अपमानका आप-लोगोंपर सदा आधिपत्य रहता है । आपकी विषयासक्त बुद्धि रज्जुमें सर्पके भ्रमकी तरह आनन्दका आभास पाती है, आनन्द नहीं । आपकी कायाने आजतक कषायोंपर कभी विजय नहीं पायी ।'

पण्डितगण मौन थे । उनका गर्व चूर-चूर हो गया था ।

महाराज उत्साहहीन होकर उठ गये । कञ्चुकीने तत्काल स्वयंवरसभा भङ्ग होनेकी घोषणा कर दी ।

× × ×

महाराज श्रीपाल अब निरानन्द और अनमने रहने लगे । एक दिन राजसभाके प्रधानमन्त्रीने निवेदन किया—महाराज ! तपोधन महर्षि अगस्त्यके आश्रमसे एक ब्रह्मचारी आया है महाराजको सपरिवार आश्रममें पधारनेका निमन्त्रण देनेके लिये······। तपोवनमें गये महाराजको अधिक समय हो गया है ?

'हाँ, ठीक कहते हो अमात्य ! तपोवन गये मुझे कई वर्ष बीत गये ।' महाराजने कहा । 'तुम ब्रह्मचारीसे कहो, मैं सूर्योदयके साथ ही तपोवनकी यात्रा करूँगा ! राजकुमारी सुवासिनी भी मेरे साथ चलेगी ।'

× × ×

दूसरे दिन महाराज श्रीपाल सुवासिनीके साथ महर्षि अगस्त्यके अतिथि हुए । आश्रमवासियोंने महाराजकी अभ्यर्थना करके उन्हें महर्षिके सम्मुख उपस्थित कर दिया ।

महर्षि अगस्त्य तपके तेजसे प्रकाशमान, ज्ञानके बलसे महान् और आत्मनिरीक्षणसे आनन्दमय दीख रहे थे ।

राजकुमारीने अवनत हो प्रणाम किया । महर्षि अगस्त्यने महाराजसे पूछा—राजन् ! सम्मेलन······ ।

'निष्फल हुआ महाराज !' महाराज श्रीपालने उत्तर दिया । 'सुवासिनीका अभिलषित पूर्ण नहीं हुआ ।'

'तो क्या ?' महर्षिने पूछा—'इतने बृहत् समागमसे कोई व्यक्ति वैसा नहीं मिला ?'

'ना महाराज !' खिन्नतासे महाराज बोले ।

'तो अब ?'

'यही तो चिन्ता है महाराज !'

'सुवासिनी !' मुनिराजने राजकुमारीको अन्तर्भेदी दृष्टिसे देखा ।

'देव !' सुवासिनीने करबद्ध होकर कहा ।

'तुम अपने जीवनकी स्वयं स्वामिनी हो ? क्या तुम्हारा जीवन तुम्हारे अधिकारमें है ?' मुनिराजने प्रश्न किया । 'तो क्या मैं अपने जीवनकी अधिकारिणी नहीं हूँ'—राजकुमारी कहते-कहते रुक-सी गयी । उसके अपने जीवनमें, अपना क्या है ? वह भीतर-भीतर खोजने लगी ।

'तुम्हारा इस सुन्दर शरीरपर, दया, ममता, राग, द्वेष, अहंकार, क्रोध, अभिलाषा—इन सबपर पूर्ण अधिकार है' देवि ?' महर्षिने दूसरा प्रश्न किया ।

राजकुमारी सोते-से जाग गयी । वह सोच रही थी—मेरा अपना यह सुन्दर शरीर मेरे अपने अधिकारमें कहाँ है ? शरीरके दुःख-सुख, कष्ट-आनन्द, सभी तो किसी अज्ञात शक्तिद्वारा समय-समयपर प्रेरित होते हैं । मैं उनका मनचाहा निवारण करनेमें कब समर्थ हुई हूँ ? शैशव, यौवन, जराको मनुष्य कब अपने अधीन कर सका है ?

उसके अन्तरने चीखकर उसके प्रश्नका उत्तर दिया—'कभी नहीं !'

उसने अधीर होकर कहा—'मेरा जीवन अपना नहीं । मैं उसकी स्वामिनी भी नहीं हूँ, देव !'

'जिस प्रकार तुम्हारा अपने जीवनपर अधिकार नहीं,'—महर्षि कहने लगे—'उसी प्रकार संसारमें किसी प्राणीका अपने जीवनपर अधिकार नहीं हो सकता । सभी प्राणी भोगमें परतन्त्र और कर्ममें स्वतन्त्र होते हैं ।'

'पूर्ण स्वतन्त्रता कब प्राप्त होती है, महर्षि !'—राजकुमारीने जिज्ञासा प्रकट की ।

जब प्राणी कर्म-निर्जरा करके मुक्त होता है । कर्म ही प्राणिमात्रको फल भोगनेको विवश करता है । जब कर्म नष्ट हो जाता है, तब भोग बनता ही नहीं; और जब भोग नहीं बनता, तब सुख-दुःख, पुण्य-पाप—कुछ भी शेष नहीं रह जाता । तब वह 'स्व'में स्थित होता है । 'स्व' का वरण ही, 'स्व'की रति ही, परम आनन्दको देनेवाली है । वही सत्य है, वही शिव है, वही सुन्दर है ।

'देव ! उसकी प्राप्तिका साधन ?'—राजकुमारीने तीव्र जिज्ञासा प्रकट की ।

'केवल तप ! सम्पूर्ण इच्छाओंका सर्वथा त्याग !'

राजकुमारीने क्षणभर महर्षिकी ओर देखकर कहा—

'देव ! सम्राट्से कहिये—मैंने अपना अभिलषित पा लिया है । मेरा अभिलषित तपोवनके इस आश्रममें अनायास ही प्राप्त हो गया है, राजधानीके राजभवनोंमें बहुत-बहुत ढूँढ़नेपर भी वह नहीं मिल सका था । मैंने आनन्द खोज लिया है । मैं अब यहीं वास करूँगी ।'

राजकुमारी सुवासिनी, महर्षि अगस्त्यके सम्मुख अपने अलौकिक सुन्दर देहसे राजकीय आभरण उतार-उतारकर महाराज श्रीपालको सौंप रही थी और सम्राट् आतुर विकल नयनोंसे, दीन होकर एकटक महर्षि अगस्त्यकी ओर देख रहे थे । महर्षि आँखें मूँदे बैठे थे । उनके मुखपर एक स्वर्गीय आभा झलक रही थी ।

भक्तकी चेतावनी

कहा-कहा नहिं सहत सरीर ।
स्याम-सरन बिनु करम सहाइ न,
जनम-मरन की पीर ॥ १ ॥
करुनावंत साधु-संगति बिनु,
मनहि देय को धीर ।
भगति भागवत बिनु को मेटै,
सुख दै दुख की भीर ॥ २ ॥

बिनु अपराध चहूँ दिसि बरषत,
पिसुन-बचन अति तीर ।
कृष्ण-कृपा-कवची तें उबरै,
पावै तबहीं सीर ॥ ३ ॥
चेतहु भैया, बेगि बढ़ी कलि-
काल-नदी गंभीर ।
ब्यास-बचन बलि बृंदाबन बसि,
सेवहु कुंज कुटीर ॥ ४ ॥

धर्मके स्तम्भ

(लेखक—श्रीरघुनाथप्रसादजी पाठक)

अक्रोध

क्रोधादि दोषोंको छोड़कर शान्त्यादि गुणोंको ग्रहण करना अक्रोध कहलाता है। क्रोध मनके उन विकारोंमेंसे है, जो मनुष्यको धर्ममार्गसे च्युत कर देते हैं।

क्रोधके अभिशाप

एक स्त्रीने एक नेवला पाल रक्खा था, जिसे वह बहुत प्यार करती थी। एक दिन वह अपने बच्चेको पालनेमें सुलाकर और उसे नेवलेकी देख-रेखमें छोड़कर कुएँसे पानी लेने गयी। इसी बीचमें एक भयंकर साँप कमरेमें आ निकला। ज्यों ही उसने बच्चेको खाना चाहा, त्यों ही नेवलेने उसपर हमला कर दिया। दोनोंमें देरतक लड़ाई हुई और अन्तमें नेवला विजयी रहा। उसने साँपको मारकर उसके कई टुकड़े कर डाले। जब वह स्त्री पानी भरकर लौटी और नेवलेको लहूलुहान पाया, तब उसने सोचा कि नेवलेने उसके बच्चेको मार डाला है। क्रोधमें आकर उसने नेवलेको घड़ा दे मारा और वह तत्काल मर गया। नेवलेको मारकर जब वह स्त्री कमरेमें घुसी, बच्चेके पालनेके पास साँपके टुकड़े देखे और अपने बच्चेको ठीक पाया, तब उसे अपनी भूल ज्ञात हुई और वह फूट-फूटकर रोने लगी। निश्चय ही क्रोधका आरम्भ मूर्खता और अन्त पश्चात्तापके साथ हुआ करता है। क्रोधकी अवस्थामें मनुष्यका विवेक जाता रहता है और मनुष्य स्वयं ऐसी अवस्था उत्पन्न कर लेता है जब कि वह क्रोधके पात्रके स्थानमें स्वयं अपनेपर क्रोध करने लग जाता है। अतः क्रोध आ जानेपर मनुष्यको रुककर पहले उसके परिणामोंपर विचार कर लेना चाहिये। जो व्यक्ति विवेकके द्वारा अपने क्रोधपर विजय प्राप्त करते हैं, वे मनुष्योंमें उत्तम माने जाते हैं।

क्रोध एक प्रकारका नशा होता है

क्रोध एक प्रकारका नशा होता है, जो मनुष्यके आभ्यन्तरको मनुष्यसे तो छिपाता, परंतु दूसरोंपर प्रकट कर देता है। क्रोधी जन अपनी आत्माका विकास करनेमें न केवल असमर्थ ही रहते प्रत्युत अपनी आत्माके विनाशका कारण बनकर दुःख पाते हैं। गीताकारने ठीक ही कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥

अर्थात् काम, क्रोध तथा लोभ—ये आत्मनाशक तथा नरक (दुःखमयी गति) के तीन प्रकारके द्वार हैं; इसलिये मनुष्य इन तीनोंका त्याग करे।

क्रोध स्वास्थ्यविनाशक है

क्रोधका मनुष्यके स्वास्थ्यपर भी बुरा प्रभाव पड़ता है, शरीरकी शोभा नष्ट होती और आयु क्षीण होती है। क्रोधसे पराभूत हुआ सुन्दर-से-सुन्दर व्यक्ति भी असुन्दर देख पड़ता है।

क्रोध ही अपना शत्रु होता है

काम और लोभकी भाँति क्रोध भी मनुष्यका शत्रु होता है, जिसके कारण मनुष्यके अमित्रोंकी संख्या बढ़ती और मित्रोंकी संख्या घटती जाती है; परिणामस्वरूप मनुष्यका सामाजिक एवं वैयक्तिक विकास कुण्ठित हो जाता है। इतना ही नहीं, अपने भी पराये होकर मनुष्यके अनिष्टका कारण बन जाते हैं। रावणके क्रोधने विभीषणको पराया बनाकर उसके सर्वनाशकी भूमि तैयार कर दी थी। रावणने अहंकार, कामुकता, पशुबल और क्रोधके वशीभूत होकर जो आग जलायी, उससे बचनेके लिये महात्मा विभीषणने सत्प्रयत्न किया; परंतु रावणको अपनी जलायी हुई आगमें जलकर नष्ट

होना था और वह नष्ट होकर रहा। वालीने क्रोध और अनीतिका आश्रय लेकर अपने सहोदर भाई सुग्रीवपर ज्यादती की, जिसका परिणाम प्रायः सभी जानते हैं। यदि सुग्रीवके साथ अन्याय न हुआ होता और वाली उसके उद्बोधनको मानकर अनीतिका मार्ग त्याग देता तो वह रामके हाथों न मारा जाता। विभीषण और सुग्रीव रावण और वालीके शत्रु न थे, अपितु इन दोनोंका पशुबल और क्रोध ही उनके शत्रु थे।

क्रोधसे उत्पन्न आठ दुर्गुण

चुगली करना, बलात्कार करना, वैर रखना, ईर्ष्या करना, गुणोंमें दोषारोपण करना, अधर्मयुक्त बुरे कामोंमें धनादि व्यय करना, कठोर वचन बोलना और बिना अपराधके कड़ा वचन बोलना या विशेष दण्ड देना—ये आठ दुर्गुण क्रोधसे उत्पन्न होते हैं।

चुगली करना, पीठ पीछे किसीकी बुराई करना और कड़वे वचन बोलना—ये दुर्गुण वाणीके विष समझे जाते हैं। कल्याणके अभिलाषियोंको इस विषसे बचना चाहिये। चुगली करना या पीठ पीछे बुराई करना कायरता है। जिन लोगोंमें नैतिक बल नहीं होता, वे ही इस प्रकारके निन्दनीय व्यापारमें रत होते हैं। जिन व्यक्तियोंसे किसीकी चुगली या निन्दा की जाती है, यदि वे समझदार हों तो उनकी दृष्टिमें चुगली या निन्दा करनेवालोंका कोई मूल्य नहीं होता। निर्बुद्धि व्यक्ति ही चुगलियों और परनिन्दासे प्रभावित होकर अपना अहित कर बैठते हैं। ईर्ष्या और वैरकी आगमें दूसरोंको जलानेके बजाय मनुष्य स्वयं जलता और अपना विनाश उपस्थित करता है। कठोर वचनोंके प्रयोगसे मनुष्य शान्त व्यक्तियोंके पुण्यमें और अपने पापमें वृद्धि कर देता है। हम ऐसे व्यक्तियोंको जानते हैं, जिनमें आपसमें बड़ा प्रेम था। दुर्भाग्यसे किसी बातपर उनमें मनमुटाव हुआ और तीखे एवं कड़वे वचनोंके प्रयोगने उन्हें एक दूसरेसे ऐसा अलग कर दिया मानो उनमें कभी प्रेम रहा ही न था। तभी कहा जाता है कि तलवारका घाव भर सकता है, परंतु वाणीका घाव कभी नहीं भरता।

क्रोधका स्वभाव मत बनाओ

क्रोध छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े प्रायः सब प्राणियोंमें होता है। बहुत-से व्यक्ति जरा-जरा-सी बातपर क्रोध कर बैठते हैं। बहुत-से व्यक्तियोंको छोटी बातोंपर क्रोध नहीं आता और आता भी है तो बहुत कम। बहुत-से व्यक्तियोंको बहुत देरमें क्रोध आता है। जरा-जरा-सी बातपर अकारण क्रोध करना लड़कपन होता है। क्रोधमें आपेसे बाहर होकर भयानक रूप धारण करना पाशविक माना जाता है। क्रोधको निरन्तर बनाये रखना राक्षसोंका स्वभाव और व्यवहार होता है। छोटी-छोटी बातोंपर आवेशमें आ जानेसे क्रोधका स्वभाव बन जाया करता है, जिसका अन्त प्रायः कटुता और शत्रुतामें होता है। बढ़ते हुए क्रोधको दबा लेना बुद्धिमत्ता और गौरवपूर्ण होता है और ऐसे व्यक्ति वीर और दिव्य होते हैं। क्रोधको दबाना अच्छा और क्रोधको रोकना उससे भी अच्छा होता है। गुणवान् और वीर पुरुष हीन गुणवालोंपर क्रोध नहीं किया करते। ऐसे ही व्यक्तियोंको बहुत कम क्रोध आता है। प्रसन्नचित्त, बुद्धिमान् और तबीअतमें लापरवाह व्यक्तियोंका क्रोध विवेकपूर्ण हुआ करता है और वह बहुत देरमें आता और बहुत शीघ्र समाप्त हो जाता है। निर्बुद्धि और कायर व्यक्ति जब भूल करता और उस भूलको स्वीकार नहीं करता, तब वह सदा तैशमें आ जाता है। वह अपनी बुद्धिकी कमीको क्रोधके द्वारा पूरा करनेका विफल प्रयत्न करता है। बुद्धिमान् व्यक्तियोंके क्रोधका गुब्बार निकल जानेपर वह क्षमाका रूप ग्रहण कर लेता है, परंतु क्रोधको छिपानेसे वह प्रायः बदलेकी भावनामें परिणत हो जाता है। क्रोधको मनमें रखकर उसे पी लेनेसे कम समझदार

व्यक्ति मन-ही-मन कुढ़ता है, जिससे उसके स्वास्थ्यपर घातक प्रभाव पड़ता है। क्रोधको पी जाना अच्छा है, परंतु यह अत्यन्त समझदार और सज्जन पुरुषोंका काम होता है। वे इस बातसे प्रभावित होते हैं कि मनुष्यको शत्रुता मोल लेने और दूसरोंकी गलतियों एवं अपराधोंका लेखा रखनेके लिये ही जीवन प्रदान नहीं किया जाता।

क्रोध कब आवश्यक होता है ?

सुधार और नियन्त्रणके लिये क्रोध आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी होता है। उस अवस्थामें वह विकारोंसे नहीं, अपितु उच्च भावनाओंसे अर्थात् हितभावनासे प्रेरित और शासित रहता है। हितभावनासे किये जानेवाले क्रोधमें अन्तर्दाह—हृदयमें जलन नहीं होती। यही उसकी पहचान है। वैर, द्वेष, बदलेकी भावना और अन्य निम्न विकारोंसे प्रेरित होनेपर वह दोषपूर्ण बन जाता है। सुधार और हितसे प्रेरित सकारण क्रोधमें पूर्ण सामर्थ्यका होना आवश्यक है। तभी उसकी उपादेयता होती है। इसके लिये क्रोध गुणोंसे तेजोमय बनना चाहिये।

क्रोध किन-किनसे न करना चाहिये ?

क्रोध तो किसीपर भी नहीं करना चाहिये; परंतु निर्बलों, असहायों, रोगियों, गुरुजनों, बूढ़ों, बच्चों और स्त्रियोंपर तो क्रोध करनेसे सदा ही बचना चाहिये। वास्तवमें तो क्रोधको पूर्ण नियन्त्रणमें रखना चाहिये।

बालिवधके पश्चात् राज्य पा लेनेपर सुग्रीव भोगविलासमें निमग्न होकर सीताजीकी खोजके कार्यको भूल गया। लक्ष्मण उसकी कृतघ्नताका दण्ड देनेके लिये किष्किन्धापुरीमें गये। जब सुग्रीवको अपने भृत्योंसे यह पता लगा कि लक्ष्मणने रौद्ररूप धारण कर रक्खा है तो वह बहुत डरा और लक्ष्मणके सामने जानेका उसे साहस न हुआ। उसने पास बुलाकर ताराको लक्ष्मणका क्रोध शान्त करनेके लिये प्रेरणा की। परंतु वह भी लक्ष्मणके सामने जाते हुए डरी और जब वह जानेसे इन्कार करने लगी, तब सुग्रीवने कहा—'डरो मत, लक्ष्मण महान् पुरुष हैं।' वे स्त्रियोंपर कोप नहीं किया करते।* तारा गयी और ताराके सामने होते ही लक्ष्मणका क्रोध शान्त हो गया।

बहुत-से व्यक्ति अपनेसे निर्बल व्यक्तियोंपर अपना क्रोध निकाला करते हैं। यह उनकी दुर्बलता तथा बड़ी भारी भूल है।

सहनशील व्यक्तिके क्रोधसे सावधान रहो

सहनशील व्यक्तिको बहुत कम और बहुत देरमें क्रोध आता है। ऐसे व्यक्तियोंके क्रोधसे बहुत सावधान रहना चाहिये; क्योंकि वह क्रोध भयंकर होनेके साथ-साथ बहुत देरमें शान्त होता है। सहनशीलताका दुरुपयोग होनेपर वह कभी-कभी बड़ी भयावनी आँधीका रूप ग्रहण कर लेती है।

अंग्रेजोंने महारानी लक्ष्मीबाईके दत्तक पुत्रको राज्याधिकारसे वञ्चित किया। महारानी इस अन्यायको सहन कर गयी। इतना होनेपर भी डलहौजीने रानीका राज्य अंग्रेजी राज्यमें मिला लिया। इस अत्याचारपर भी वे मौन रहीं। महारानीने अपने दत्तक पुत्रके उपनयन-संस्कारके लिये उसके लिये सुरक्षित छः लाख रुपयेमेंसे एक लाख रुपयेकी माँग की। दुष्ट अंग्रेज शासकोंने इस राशिको भी देनेसे इन्कार कर दिया। रानीने आग्रह किया तो उस राशिको देनेकी यह शर्त रक्खी गयी कि यदि कोई महाजन अपनी जमानत देनेको उद्यत हो तो यह राशि दी जा सकती है। रानीने अपमानकी यह घूँट भी शान्तिपूर्वक पी ली।

---

* त्वद्दर्शनविशुद्धात्मा न स कोपं करिष्यति।
न हि स्त्रीषु महात्मानः क्वचित्कुर्वन्ति दारुणम्॥
(वाल्मीकिरामायण, सुन्दरकाण्ड)

जमानत दी गयी और रानीने राशि प्राप्त करके अपने प्यारे पुत्रका उपनयन-संस्कार किया। रानी उस समयतक भी अपनी सहनशीलताका परिचय देती हुई अंग्रेजोंके प्रति निष्ठावान् रहीं। परंतु जब कुचक्रियोंके षड्यन्त्र और शासकोंकी अदूरदर्शिताके-कारण वह देवी राजविद्रोही घोषित कर दी गयीं, जिन्होंने अंग्रेज स्त्री-बच्चोंको अपने महलमें शरण देकर उनकी प्राण-रक्षा की थी, तब उनकी सहनशीलताका बाँध टूटते देर न लगी और उन्होंने जो भयंकर रूप धारण किया, वह इतिहासके प्रत्येक विद्यार्थीको ज्ञात है। जिन महापुरुषों और वीराङ्गनाओंने अंग्रेजी दासतासे भारतको मुक्त करनेके सत्प्रयत्न एवं अपने रक्तसे स्वराज्य-भवनकी नींव पक्की की, उनमें लक्ष्मीबाईका नाम मूर्द्धन्य स्थान रखता है।

क्रोधको शान्त करनेके उपाय

क्रोधका सामना क्रोधसे नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेसे क्रोध शान्त होनेके स्थानमें बढ़ता है, घटता नहीं। मीठे और कोमल शब्दोंसे क्रोध सहज ही शान्त हो जाता है। कहावत है कि कोमल वचन पत्थरको भी पिघला देते हैं। विलम्ब क्रोधकी सर्वोत्तम दवा मानी जाती है। जब मनुष्य स्वयं क्रोधका शिकार होने लगे, तब उसे ठंडा पानी पीना चाहिये या दसतक गिनती गिन लेनी चाहिये। यदि क्रोध चढ़ता जाय तो १०० तक गिनती गिन लेनेसे क्रोध शान्त होने लगता है। क्रोधसे पागल हो जानेपर मनुष्यको यह सोचना चाहिये कि मेरे क्षणभरके क्रोधसे मेरा पूरा दिन, पूरा सप्ताह या इससे अधिक समय अशान्त बना रह सकता है। मेरा जीवन क्षणभङ्गुर है। परमात्मा मेरे इस अवाञ्छनीय व्यवहारको देख रहा है, जो मुझसे रुष्ट हो जायगा।

उदाहरण

आर्यसमाजके प्रवर्तक महर्षि दयानन्द जब गुरु विरजानन्दजीके यहाँ पढ़ते थे, तब एक दिन वे किसी अपराधपर दयानन्दसे रुष्ट होकर उन्हें पीटने लगे। विद्यार्थी दयानन्दने गुरुदेवके क्रोधको शान्त करनेके लिये कहा—'महाराज! क्षमा करें, मुझे पीटते हुए आपके हाथोंको कष्ट हो रहा होगा।' ज्यों ही दयानन्द-के मुखसे ये शब्द निकले, त्यों ही गुरुदेवका क्रोध पानी-पानी हो गया।

नादिरशाहकी क्रोधाग्निमें देहली जल रही थी। बड़े भयंकररूपमें कत्ले-आम जारी था। हताहतोंके करुण क्रन्दन और चीत्कारसे आकाश भी रो रहा था। नादिरशाहके खूनी सैनिक लोगोंके रक्तसे दिल खोलकर फाग खेल रहे थे। निस्सहाय मुगल सम्राट् मुहम्मदशाह रनवासमें पड़ा अपनी बेबसीका मरसिया पढ़ रहा था। नादिरशाहके हुक्मपर वह बाहर लाया गया और वह सिर झुकाकर नादिरशाहके पास बैठ गया। हरमसरामें विलास करनेवाले बादशाहको नादिरशाहकी अविनयपूर्ण बातें सुननेको मिलीं; पर मजाल न थी कि जबान खोल सके। उसे अपनी ही जानके लाले पड़े थे। पीड़ित प्रजाकी रक्षा कौन करे। वह सोचता था मेरे मुँहसे कुछ निकले और वह मुझीको डाँट बैठे तो?

अन्तको जब सेनाकी पैशाचिक क्रूरता पराकाष्ठाको पहुँच गयी, बादशाहके वजीरसे न रहा गया। वह जान-पर खेलकर नादिरशाहके सामने पहुँचा और उसने यह शेर पढ़ा—

कसे न मांद कि दीगर बतेगे नाज कुशी।
मगर कि जिंदा कुनी खल्क रा ब बाज कुशी॥

अर्थात् तेरी निगाहोंकी तलवारसे कोई नहीं बचा। अब यही उपाय है कि मुर्दोंको फिर ज़िलाकर कत्ल कर।

शेरने दिलपर चोट की। पत्थरमें भी सुराख होते हैं। पहाड़ोंमें भी हरियाली होती है। पाषाण-हृदयोंमें भी रस होता है। इस शेरने पत्थरको पिघला दिया। नादिरशाहने सेनापतिको बुलाकर कत्ले-आम बंद करनेका हुक्म

दिया । एकदम तलवारें म्यानमें चली गयीं । कातिलोंके उठे हुए हाथ उठे ही रह गये । जो सिपाही जहाँ था, वहीं बुत बन गया ।

उपसंहार

संसारमें लोगोंके दिलोंपर शान्ति और अक्रोधका शासन हुआ करता है । शान्त और चरित्रवान् व्यक्तियोंको ही सुख और आदर प्राप्त होता है । वे व्यक्ति धन्य हैं, जो क्रोधको रोककर शान्तिका प्रसाद देते हैं । ऐसे ही महाभागोंको महात्माओंकी पदवी मिलती है । मानव-जीवनकी सफलता और सुन्दरता समाजमें भय और आतङ्क व्याप्त करनेमें नहीं, अपितु शान्ति और आनन्दकी धारा प्रवाहित करनेमें निहित है । जो व्यक्ति संसारमें भय, आतङ्क और अत्याचार व्याप्त करते हैं, लोग उनके नामपर थूकते और वे अपने ही पापसे विनष्ट हो जाते हैं ।

भक्त श्रीरामचरित्रप्रसाद

[एक कर्मयोगी भगवद्भक्तका संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त]

(लेखक—श्री'माधव'जी)

इस लेखके द्वारा 'कल्याण'के पाठकोंको मैं एक आदर्श कर्मयोगी भगवद्भक्तका परिचय कराना चाहता हूँ । श्रीरामचरित्रप्रसादजीका जन्म सन् १८८९ ई० में हुआ था । आपके पिताका नाम श्रीठाकुरप्रसादजी था । वे छपरा कचहरीमें सरकारी नौकरी करते थे । गङ्गा-स्नानसे आपको अतिशय प्रेम था । जब छपरासे गङ्गाजी तीन-चार मील दूर दक्षिण हट जाती थीं, तब भी प्रतिदिन गङ्गा-स्नानका नियम उनका भङ्ग नहीं होता था । श्रीरामचरणदासकृत टीकाके साथ वे नित्यप्रति तुलसीदासकृत रामचरितमानसका पाठ करते थे । पिता-की पितृभक्ति पूर्णरूपसे विरासतके रूपमें रामचरित्रप्रसाद-जीको मिली थी । परंतु यदि उनके पितामें धर्मके साथ उसका तेजस्वी रूप भी यदा-कदा सात्त्विक क्रोधके रूपमें व्यक्त होता था तो पुत्रमें भी सर्वदा ईश्वरभक्तिका सर्वतो-भावेन निर्मलकारी शान्त स्निग्धरूप ही प्रकाशित होता था ।

पढ़नेके समयसे ही मानसके पाठका अभ्यास रामचरित्रप्रसादजीको हो गया । आपने छपरा जिला स्कूलसे द्वितीय श्रेणीमें १९०९ ई० में एन्ट्रेन्सकी परीक्षा पास की । जिस समय आप स्कूलमें पढ़ते थे, उस समय एक बार भीषण प्लेग आ गया । आपके बड़े चाचा श्रीवेणीप्रसादने सारे परिवारके लोगोंका ग्राम-से एक मील दूर खैरा नामक स्थानपर डेरा डलवाया । उस समय आप प्रतिदिन छः मील दूर स्कूल जाते थे और छः मील लौटकर आते थे । कालेजमें आप आदर्श छात्रोंमें गिने जाते थे । पटना कालेजमें श्रीयदुनाथ सरकार, महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा आदि आपके अध्यापकोंमें थे । आप मिंटो हिंदू छात्रावासमें रहते थे, जिसके अध्यक्ष श्रीरामावतार शर्माजी थे । शर्माजीका आपपर बड़ा स्नेह था और उन्होंने आपको छात्रावासका प्रिफेक्ट (Prefect) भी बनाया था । कालेजमें आप हाकी (Hockey) के अच्छे खिलाड़ी समझे जाते थे । पटनाकालेजमें पढ़ते समय भी आप प्रतिदिन गङ्गास्नानके नियमका सर्वदा पालन करते थे ।

१९१४ ई० में आपने बी० ए० की परीक्षा पास की और स्कूलोंके निरीक्षकके पदपर आपकी नियुक्ति हुई । उसी समय आपके बड़े चाचा श्रीवेणीप्रसादजीका बदरिकाश्रमकी यात्रामें देहावसान हो गया । इस घटना-का आपके जीवनपर बड़ा प्रभाव पड़ा । सन् १९१८

ई० में रामचरित्रप्रसादजी भीषणरूपसे बीमार पड़े । आपको प्रायः एक वर्ष रुग्ण रहना पड़ा । जीवनकी कुछ भी आशा न रही । आपकी मृत्युकी प्रतीक्षामें हिंदू-प्रथाके अनुसार भूमि-शय्या दी गयी । उस समय आपको पत्नीके अतिरिक्त तीन कन्याएँ थीं । किंतु इस दारुण वज्रपातके समय अशरणशरण भगवान्‌ने अपने भक्तकी रक्षा की । आपको थोड़ा बुखार आ गया और भूमिशय्यासे हटाकर बिछावनपर लिटाया गया । कुछ महीनोंमें आप पूर्ण चंगे हो गये ।

इस भीषण बीमारीसे रक्षा होनेके फलस्वरूप रामचरित्र-प्रसादके जीवनमें महान् रूपान्तर हो गया । अबतक आप एक साधारण गृहस्थ थे, जिसकी ईश्वरमें बड़ी निष्ठा थी । किंतु अब आप एक क्रियात्मक संत हो गये । गीतामें कहे गये अनासक्तिपूर्ण कर्मयोगका आप अभ्यास करने लगे । आपने भगवान्‌के सामने आत्मसमर्पण कर दिया । तिलक महाराजविरचित 'गीता-रहस्य' का आप स्वाध्याय करने लगे ।

सन् १९३२ ई० में आपने 'कल्याण' को मँगाना प्रारम्भ कर दिया । 'कल्याण'में आप भक्तोंके आदर्श चरितका सर्वदा पाठ करते थे । गीताके अध्ययनने आपमें ज्ञानकी धारा प्रवाहित की । भक्त-चरितों और रामचरितमानसके अध्ययनसे आपमें भक्तिका निर्मल स्रोत भी उमड़ पड़ा । 'कल्याण' का पाठ आप बराबर करते थे । जब १९४५ ई० में चम्पारण जिलेके स्कूलोंके बड़े निरीक्षकके पदपरसे आपने अवकाश ग्रहण किया, तबसे आप अधिक समय धर्म-ग्रन्थोंके अध्ययनमें देने लगे । जब-जब आपपर कष्ट आते थे, तब-तब 'कल्याण' में लिखित भक्तचरितोंके पाठसे आपको बड़ी शान्ति मिलती थी । अवकाश-प्राप्तिकी अवस्थामें जब कभी आप अपने खेत आदिका निरीक्षण करते थे अथवा अन्नकी दौनी (बैलोंद्वारा) का खलिहानमें निरीक्षण करते थे, उस समय भी कल्याणकी नयी प्रति आपके हाथमें रहती थी । 'कल्याण' ने आपके परिवारमें धार्मिक वातावरणके प्रसारणमें बड़ी मदद की । मृत्युके कुछ महीने पूर्व आपने बड़े पुत्रसे कहा था कि मैं जीवनपर्यन्त 'कल्याण' मँगाऊँगा । मृत्युके कुछ सप्ताह पूर्व आपने बड़े पुत्रको आदेश दिया कि "मेरे न रहनेपर भी 'कल्याण' को तुम अवश्य मँगाना ।"

सन् १९१४ से सन् १९४५ तक आपने शिक्षा-विभागमें नौकरी की । किंतु वहाँपर भी आपने सर्वदा अपने व्यक्तित्वद्वारा समाज-सेवाकी ही चेष्टा की । शिक्षा-विभागमें ऊँचे पदोंपर काम करते हुए भी आप सर्वदा निरभिमान रहे । किसी प्रकारकी रिश्वत अथवा अन्य वस्तु किसीसे ले लेना आपने कभी जाना ही न था । आप अत्यन्त उदार, कर्मठ, निष्कपट और पक्षपातहीन आचरण करनेवाले अफसर थे । नौकरी करते समय कई प्रकारके प्रलोभन और भय आपके सामने आये । किंतु एक आदर्श भगवद्भक्तके समान आपने दोनोंकी समान भावसे उपेक्षा की । आप प्रतिदिन दो घंटे गीता और रामचरितमानसका पाठ करते थे । सायंकाल आधे घंटेतक प्रार्थना करते थे । गीताके निम्नलिखित श्लोकमें आपका दृढ़, अटूट विश्वास था—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

१९४२ ई०के आन्दोलनमें स्वराज्यका कार्य करनेके कारण आपके बड़े पुत्रको कालेजछात्रावाससे हटा दिया गया और अंग्रेजी शासकोंकी ओरसे कुछ अन्य धमकियाँ भी दी गयीं । वे घबरा गये और भविष्यकी कष्टपूर्ण आशङ्कामें आपसे इसका जिक्र किया । आपने कहा—

'यह अर्जुनमोह तुम्हें क्यों उपस्थित हो गया ? तुम दृढ़तापूर्वक स्वधर्मका पालन करो ।'

आप भारतीय कुलधर्मकी मर्यादाका पालन करते थे । इसी कारण आपने यावज्जीवन अपने चचेरे भाइयों और

अपने चाचाकी पूरी सहायता की। आपके निकट परिवार-वालोंने कई बार इस उदारताके लिये आपको उलाहना भी दिया, किंतु उनपर इसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ा; क्योंकि गीताकी इस उक्तिमें उनका विश्वास था कि कल्याण कर्म करनेवाला कदापि दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता।

सन् १९५४ ई० से ही आप रुग्ण रहने लगे। जीवनके अन्तिमकालमें ही आपके निकट सम्बन्धियोंको भी इसका भान हो सका कि आपने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है। सन् १९५५ ई० में आप अत्यन्त भीषण रोगसे पीड़ित थे। बहुमूत्रकी पुरानी बीमारी थी ही, उसके बाद खूनका जोरोंसे दौरा शुरू हो गया था। किंतु जब सारा परिवार आतङ्कित था और पटनेके बड़े-बड़े डाक्टरोंने भी निराशा प्रकट कर दी थी, उस समय भी श्रीरामचरित्रप्रसादजीके चेहरेपर जरा भी सिकुड़न नहीं आयी। आप पूर्ण विश्रान्त और निश्चिन्त थे। सिर्फ आपने एक बार यही कहा 'अब समय आ गया है।' किंतु ईशकृपासे आप फिर चंगे हो गये।

३ फरवरी १९५६ ई० को आप गीताका पाठ कर रहे थे। डाक्टरने खूनकी बीमारीके दौरेके कारण लेटे रहनेका आदेश दिया था, किंतु आप आसनस्थ हो गीता और रामायणका पाठ बराबर करते थे। डाक्टरने स्नान करनेकी मनाही कर दी थी, किंतु आदर्श आचारवान् हिंदू होकर बिना स्नान किये भोजन करना आपको कदापि स्वीकार नहीं था। ३ फरवरीको आपने स्नान किया और गीताका पाठ किया। करीब साढ़े तीन बजे दिनमें आप डेरेके पास ही शिव-मन्दिरमें गये। वह शिवमन्दिर गङ्गाकिनारे रानीघाट मुहल्लेमें है। डाक्टरोंके आदेशके विरोधमें आप मन्दिरमें चले गये। मन्दिरमें आपने प्रायः दस मिनटतक खड़े रहकर शिवजीकी स्तुति और प्रार्थना की। प्रार्थनाके बाद ज्यों ही आप आगे बढ़े कि आपके पैर लड़खड़ा गये और शिवजीके ध्यानमें ही आप बेहोश हो गये। शीघ्र आप अस्पताल ले जाये गये, जहाँ पटनाके बड़े-बड़े विशेषज्ञोंके रहते भी बारह घंटेके भीतर आपका प्राणान्त हो गया। जितने लोग उपस्थित थे और जिसने भी इस घटनाके बारेमें सुना, सभीने कहा—श्रीरामचरित्रप्रसादजी साक्षात् शिवलोकको गये हैं। जब आपकी मृत्युका समाचार आपके ग्राममें पहुँचा, सारा ग्राम रो पड़ा। आस-पासके ग्रामके लोग भी रो पड़े। सबोंने एक स्वरसे कहा—'श्रीरामचरित्रप्रसाद साक्षात् महर्षि थे। गङ्गाके किनारे, माघ महीनेमें शिवमन्दिरमें शरीर त्याग करना—यह एक महर्षिके अतिरिक्त कौन कर सकता है।'

हमारे ठाकुर

जुगल किसोर हमारे ठाकुर।
सदा-सरबदा हम जिनके हैं, जनम-जनम घरजाए चाकर ॥ १ ॥
चूक परैं परिहरैं न कबहूँ, सबही भाँति दयाके आकर।
जै श्रीभट्ट प्रगट त्रिभुवनमें, प्रनतनि पोषत परम सुधाकर ॥ २ ॥

महान् उपहार

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'दादा ! कल कन्हाईको क्या देगा तू ?' व्रज-बालकोंमें सबसे छोटे, श्यामके सबसे प्रिय तोकने श्रीबलरामसे पूछा ।

कल श्रीकृष्णचन्द्रकी वर्षगाँठ है । व्रजमें सभी कल उसे कुछ-न-कुछ उपहार देंगे । सबकी एकान्त अभिलाषा है कि वह ऐसा कोई उपहार दे, जिसे पाकर श्यामसुन्दर सर्वाधिक प्रसन्न हो । सप्ताहोंसे नहीं, महीनोंसे सबके चिन्तनका विषय यही रहा है—'इस वर्षगाँठपर क्या दें नन्दनन्दनको ?' अब कल ही वर्षगाँठ है । आज तोक दाऊसे पूछने बैठा है । दाऊ क्या देगा, यह पता लग जाय तो तोक भी कुछ निश्चय कर ले ।

'मैं क्या दूँगा, बताऊँ ?' मधुमङ्गलने बीचमें ही छेड़ लिया ।

'रहने दे !' तोकने तनिक घूमकर देखा उधर। 'तू देगा आशीर्वाद ।'

'ब्राह्मणका आशीर्वाद यों ही नहीं मिला करता ।' गम्भीरताका अभिनय किया मधुमङ्गलने—'आशीर्वाद तो तब मिलेगा, जब यह मुझे दक्षिणा देकर प्रणाम करेगा ।'

'नहीं तो !' इस बार कन्हाई बोला ।

'हूँ !' घूसा दिखाया मधुमङ्गलने ।

'तो तू कल यही देना !' श्याम हतप्रभ हो नहीं सकता । वह हँस उठा । सचमुच कन्हाई ही ऐसा है, जो उपहारमें मीठी चपत या घूसा भी लेकर प्रसन्न हो सकता है । भीष्मके शराघातका उपहार जो स्वीकार कर सके, असुरोंके उन्मद आक्रमणको जो अर्चन मानकर उन्हें स्वधाम दे सके—कुछ अटपटा तो नहीं है उसके लिये यह उपहार भी ।

'दादा ! बता न, तू क्या देगा ?' तोकने दाऊका कंधा पकड़कर हिला दिया ।

'मैं ऊँ बताऊँ ?' श्यामने उत्तरकी अपेक्षा किये बिना बताया—'दादा देगा यह आजका अपना पुष्पमाल्य ।'

दाऊ क्या बताये ? उसका या व्रजमें किसीका ऐसा है क्या, जो श्यामका नहीं है । किंतु श्याम है ही ऐसा कि उसे तो कल कोई उसीका पटुका या उसीकी मुरली उठाकर दे दे तो उसे महान् उपहार मानकर खिल उठेगा । वह अभीसे अपने बड़े भाईकी उतारी पुष्पमाला माँगने लगा है । नित्य लोग उसे उसीकी वस्तुएँ तो भेंट करते हैं । ऐसी वस्तु कहाँसे आयेगी जो उसकी न हो ।

'तू क्या लेगा ?' दाऊ बतलाता नहीं तो तोक श्यामसे ही क्यों न पूछ ले ।

'मैं तुझे लूँगा ।' कन्हाईने झटसे बिना सोचे उत्तर दे दिया ।

'चल !' तोकको ऐसी बात रुची नहीं । ये सब बड़े वैसे हैं—कोई उसे सहायता नहीं देता कि वह कलका उपहार चुन सके । कन्हाईका वह कब नहीं है —वह तो सदासे श्यामका छोटा भाई है । उसे लेनेकी नयी बातका क्या अर्थ हो सकता है ।

× × ×

'कौन हो तुम ?' कटिमें फटा-सा मैला चिथड़ा, मस्तकपर रूखे धूलिभरे उलझे केश, कपोलोंपर अश्रुकी सूखी चमकती रेखा, इतना दुर्बल, इतना विषण्ण, इतना हतप्रभ बालक यह कौन है ? व्रजमें ऐसा बालक ! नन्हे तोकको आश्चर्य हुआ तो बड़ी बात क्या हुई । वह दौड़ गया और हाथ पकड़कर उसने बालकसे पूछा ।

'तुम कहाँसे आये ?' तोकने हाथ झकझोर दिया उस बालकका । यह बोलता क्यों नहीं ? यह तो स्वप्नसे सहसा जाग्रत् हुएकी भाँति इधर-उधर बड़े आश्चर्यसे केवल देख रहा है ।

'तुम किस गाँवके हो ? गूँगे हो तुम ? तुम्हें किसने मारा है ?' तोकको अद्भुत लग रहा है यह बालक । यह इतना उदास और कंगाल क्यों दीखता है ? व्रजमें तो कोई भिक्षुक भी ऐसा नहीं होता ।

कंसके अनुचरोंका अत्याचार चल रहा है चारों ओर । उसके क्रूर राक्षस गाँवोंको जला देते हैं, हरे वृक्षोंको काट देते हैं । मानवका रक्त—उनके लिये तो वह एक विनोद उत्पन्न करनेकी वस्तु है । कल जिसका घर असुरोंने भस्म कर दिया, जिसके स्वजन आततायियोंके द्वारा मार दिये गये, जो किसी प्रकार प्राण बचाकर भागा और पूरी रात्रि उन्मत्तकी भाँति भागता रहा बिना किसी लक्ष्यके, वह क्या कहे ? क्या बताये ?

वह बालक—वह आपत्तिका मारा, यमराजके अनुचरों-जैसे दानवोंके आतङ्कसे अर्धमूर्छित बालक और वह आ कहाँ गया—यह सुषमा-सार-सर्वस्व व्रजधरा, ये कल्पपादपनिन्दक तरु-वल्लरियाँ और ये नर-नारी यदि मानव हैं तो देवता कौन होंगे ? इतना सौन्दर्य, इतना वैभव, इतनी प्रफुल्लता—बालक तो विमूढ़ हो रहा है ।

सबसे बड़ी बात—यह नवघन-सुन्दर, पीत-वस्त्र, सौकुमार्यकी मूर्ति नन्हा चपल शिशु—जिसने बालकका हाथ सहसा पकड़ लिया है—बालक केवल देख रहा है तोककी ओर । उसकी वाणी असमर्थ है । उसके नेत्र झरने लगे हैं । वह केवल देख रहा है ।

'तुम मेरे साथ आओ ! भूख लगी है तुम्हें ? रोओ मत, मैं तुमको मक्खन दूँगा ।' तोक आतुर हो उठा है । वह इस बालककी पीड़ा कैसे दूर कर दे ?

'कँ ! कनूँ ! देख तो !' तोकने दूरसे ही पुकार लिया । तोक पुकारे और श्याम दौड़ न आये·········।

'यह तेरा उपहार है !' नवीन बालक पता नहीं क्यों श्यामके चरणोंपर गिरने झुका और कन्हाईने उठाकर भर लिया उसे दोनों भुजाओंमें । अपने साथ आये बड़े भाईकी ओर देखता मोहन कह रहा था—'दादा ! यह तोकका उपहार—आजका सबसे महान् उपहार है न ?'*

दर्शनके लिये प्रार्थना

जसुमति-सुत, मोहि दीजै दरसन ।
तन-मन-प्रान तपत हैं निसिदिन, छिन एक होत बराबर बरसन ॥ १ ॥
सियरौ होतौ पहलैं हृदयौ अब तो अँखियाँ लागीं तरसन ।
रसिक प्रीतम बिनती चित धरिए तुमसे सरस कहाँ लगे अरसन ॥ २ ॥

* मत पूछिये कि यह घटना कहाँ किस पुराणमें लिखी है । यह कहानी है और कहानी सत्य घटना नहीं हुआ करती । घटना तो कहानीका सौन्दर्यमात्र है । कहानीका सत्य है उसकी प्रेरणा और शिवत्व है उसका वह प्रभाव, जो आपपर (पाठकपर) पड़ता है । श्याम सदा आतुर है अपनानेके लिये—सबको, जीवमात्रको अपनानेके लिये । वह जीवका नित्य-सखा—उसके लिये महान् उपहार है अपने-आपको उसे दे देना । इस कहानीका सत्य यही है और यह नित्य-सत्य नहीं है, ऐसा आप कैसे कहेंगे । —लेखक

अपना समाजवाद

(लेखक—पं० श्रीसूरजचंदजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

अपने यहाँ शाश्वत समाजवादमें यह माना गया है कि लक्ष्मीदेवी जगज्जननी हैं—हमें उनकी गोदमें बैठकर अर्थका दूध पीना चाहिये, जिससे हम सत्कर्मोंका पालन करनेमें समर्थ बन सकें। वे जगज्जननी भगवान्-विष्णुकी पत्नी हैं, उनपर व्यापक तत्त्वका अधिकार है—यदि हमने उनपर अपना स्वामित्व समझा तो निश्चित है कि दुनियाके सम्पूर्ण दुःखोंको निमन्त्रण मिल गया।

हम श्रीमन्नारायणके उपासक हैं अर्थात् लक्ष्मीसहित नारायणकी भक्ति ही हमारे जीवनका भूषण है। भगवान् नारायण धर्म और मोक्षस्वरूप हैं और भगवती लक्ष्मी अर्थ और कामस्वरूप अर्थ। कामको धर्म-मोक्षके अनुशासनमें चलना है।

धर्म मूल है, अर्थ-काम पत्र-पुष्प हैं और मोक्ष फल है। भगवत्प्रेम रस है। यह समझकर जो जीवन धारण करता है, वही हमारे समाजका घटक है।

स्थायी शान्तिका व्यवहार ऐसे ही समाजमें हो सकता है।

हमारे समाजमें भगवान् ऋषभदेवको परम गुरु, भगवान् दत्तात्रयको सद्गुरु, भगवान् व्यासको जगद्गुरु और भगवान् कपिलको सिद्धश्रेष्ठ माना गया है।

परमहंस-ज्ञान अर्थात् मोक्ष-संहिताका उपदेश प्रभु ऋषभदेवने अपने पुत्रोंको किया था, जिन्होंने विदेह राजा निमिको शान्ति प्रदान की। इतना ही नहीं, भगवान् वासुदेवके पिता जब चिन्तित थे, तब देवर्षि नारदने यही ज्ञान उन्हें सुनाया, जिससे देवकीनाथको परम विवेक प्राप्त हुआ। जो ज्ञान विदेहको भी शान्ति दे और दैवी-सम्पत्तिके स्वामी वसुदेवको भी परम विवेक प्रदान करे, उस ज्ञानको देनेवाले भगवान् ऋषभदेव हमारे परम गुरु क्यों न कहलायेंगे। उनका चिह्न ही ऋषभ है—बैल, जो धर्मका पूर्णस्वरूप है और यही हमारे समाजका आधार है। इसकी उपासना छोड़कर ट्रैक्टरोंके फंदेमें पड़े कि फँसे—समझ लो—मैं तो संकेत कर रहा हूँ।

दूसरे सद्गुरु 'दत्तात्रय'के स्वरूपका भी चिन्तन कीजिये। लक्ष्मी, सरस्वती और पार्वती—तीनों शक्तियाँ यदि परस्पर असूया करें तो देवर्षि नारद कहते हैं अनसूया ही हमारे समाजमें सद्गुरुत्वको उत्पन्न कर सकती हैं; क्योंकि वे त्रिगुणकी शक्ति नहीं, त्रिगुणातीत महर्षि अत्रिकी शक्ति हैं। इसीलिये भगवान् श्रीरामने भरतजीको 'अत्रि-कूप'में स्नान करनेका आदेश दिया था और जगज्जननी सीतादेवी भी "अनसुइयाके पद गहि"के अशोकवनमें शोकरहित रह सकीं। अनसूया और अत्रि-द्वारा दत्त गुरुतत्त्व ही सद्गुरु है। जिस समाजमें असूयारहित शक्तियाँ कार्य करती हैं, वही समाज स्थायी शान्तिका प्रचारक हो सकता है।

प्रकृति-तत्त्वके सिद्ध करनेमें परम पटु भगवान् कपिलने कर्दम-शक्ति देवहूतिको अपनी माता बनाकर उद्धार किया। 'सिद्धानां कपिलो मुनिः।' सभी श्रेणियों-के—सभी विषयोंके वैज्ञानिकोंको उनके सांख्य-तत्त्वोंका आधार लेकर ही आगे बढ़ना पड़ता है।

भगवान् व्यासके विषयमें क्या कहें? महाभारत या अपने देशके समाज-विस्तारके वे ही मूल कारण हैं। महाभारत ही क्या, 'व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वम्।' सारा जगत् ही उनके ज्ञानका उच्छिष्ट खाकर जी रहा है। आनन्दकन्द नन्दनन्दनकी मुरली और वसुदेव-सुत देव—कंस-चाणूर-मर्दन—देवकीनन्दन श्रीकृष्ण-की वाणीको हमतक पहुँचानेका श्रेय भी उन्हींको है।

दूसरोंके राष्ट्रोंको अन्यायसे धृत (हड़प) करनेवाले अंधे धृतराष्ट्रोंको यह समझ लेना चाहिये कि उनके

दुःशासन और दुर्योधन कभी बच नहीं सकते। दुष्टतासे शासन करनेका या दुष्टतासे युद्ध करनेका फल बहुत बुरा होता है। जिसके पक्षमें न्याय और सत्य होता है, उसीके पक्षमें भगवान् हैं । ऐसे ही पुरुष धर्मराज—युधिष्ठिर—युद्धमें स्थिर होते हैं। इसलिये वे 'अनन्त विजय' का शङ्ख बजाते हैं। 'यतो धर्मस्ततो जयः।' अर्जुनकी अर्जन करनेवाली ऋजु शक्ति और भीमकी भयंकर प्रबल शक्तिके साथ नकुल और सहदेवका भी उन्हें सहयोग प्राप्त होता है। छोटे-मोटे पद-दलित सभी राष्ट्र उनके सहदेवा बन जाते हैं और यह निश्चित है कि सभी शक्तियोंका धर्मके अनुशासनमें भगवान् योगेश्वर योग करते हैं, तब समाजकी सनातन शाश्वत घोषणा होती है:—

"तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिः"

वहाँ लक्ष्मी, विजय, ऐश्वर्य आदि सब कुछ स्वयं उपस्थित होते हैं।

प्रार्थना है कि हम इधर-उधर न भटककर अपने शाश्वत समाजवादका मर्म ऋषि-महर्षियोंके चरणोंमें बैठकर समझें—स्वतः भी शान्ति और शक्ति प्राप्त करें और दुनियाको भी वास्तविक समता और विवेकपूर्ण स्थायी सुखकी ओर बढ़ानेमें सहायक बनें।

शिव-भक्त नीलांकर

(लेखक—श्रीविजय 'निर्बाध')

'महान् पाप ! तुमने इसे अपवित्र करनेका साहस कैसे किया ? क्या शिवलिङ्गपर थूकनेके अतिरिक्त स्थितिपर काबू पानेका कोई दूसरा तरीका नहीं था ? शापित नारी ! क्या तुम अपने अपवित्र मुखसे निकले हुए थूकको गङ्गाजल-जैसा पावन समझती हो ? मेरी दृष्टिसे दूर हो जाओ, मैं इसी क्षण तुम्हारा परित्याग करता हूँ।'

नीलांकरका क्रोध पराकाष्ठाको पहुँच चुका था और किसी हदतक वह था भी ठीक।

वह कावेरीके तटपर बसे हुए एक सुन्दर ग्राम 'सथामंगई'का निवासी था। पक्का ब्राह्मण होनेके साथ-साथ वह वेदों और पुराणोंका दृढ़ विश्वासी और भगवान् शिवका अनन्य भक्त था। शिवलिङ्ग-पूजा और शिवभक्तोंको सुरुचिपूर्ण भोजन कराना ही उसके जीवनका एकमात्र ध्येय था।

त्रयोदशीके पवित्र दिन नीलांकर अवन्तीके मन्दिरमें जाकर 'शिवलिङ्ग'-पूजामें संलग्न हो गया। उसकी आज्ञाकारिणी पत्नी भी पास ही खड़ी सामग्री दे-देकर पूजामें उसकी सहायता कर रही थी। वह वास्तवमें एक आदर्श हिंदू-नारी थी, जिसने अपने आपको पूर्णरूपसे अपने स्वामी और उनके इष्टदेवमें एक-रूप कर दिया था। पूजासे प्राप्त अपार आनन्दमें विभोर वह अपनी सुधितक खो बैठी। नीलांकरने यद्यपि विधिवत् पूजा समाप्त कर ली थी, फिर भी उसे बराबर एक मानसिक अशान्तिका अनुभव हो रहा था—अकारण ही वह परेशान था; अतः उसने शिवलिङ्गकी परिक्रमा की और बैठकर उसी संकटहारी नामका जप आरम्भ कर दिया।

अचानक छतपरसे एक मकड़ी गिरी और शिवलिङ्गपर आ पड़ी। यह एक साधारण प्रथा है कि जब मकड़ी किसी बच्चेपर आ गिरे तो माँ तुरंत ही फूँक मारकर उस स्थानपर थूककर उसे मसल देती है जिससे कि बदनपर दाने न पड़ जायँ। नीलांकरकी पत्नीने एक क्षणके लिये भी यह नहीं सोचा कि लिङ्ग पत्थरका बना हुआ है और उसपर मकड़ीके गिरनेका कोई कुप्रभाव नहीं होगा; उसे तो उस समय केवल एक ही ध्यान था और वह यह कि इस घटनासे उसके देवताको कितना कष्ट होगा। मातृसुलभ स्नेहके वशीभूत उसने शिवलिङ्गपर, जहाँ

मकड़ी गिरी थी, थूककर अँगुलीसे मसलना आरम्भ कर दिया ।

नीलांकरके लिये यह देख सकना तक असहनीय था—उसने घृणासे आँखें मूँद लीं और चिल्लाया, 'यह तुम कर क्या रही हो ?' लेकिन शान्त स्वरमें उत्तर मिला, यही मकड़ी गिरनेपर साधारण उपचार है ।

बेचारा नीलांकर मातृ-स्नेह और अपनी पत्नीके हृदयकी भक्तिकी थाह नहीं पा सका; उसे विश्वास था कि जो कुछ भी हुआ, वह एक महान् पाप था । उस शिवलिङ्गको, जिसकी कि वह अभी पूजा कर रहा था, उसकी पत्नीने अपने थूकसे अपवित्र कर दिया । उसकी सहनशक्ति समाप्त हो चुकी थी और परिणामस्वरूप उसी मुखसे, जिससे कुछ क्षण पहले भगवान्‌के पावन नामका जप हो रहा था, क्रोधभरे अपशब्द अपनी पत्नीके प्रति निकलने आरम्भ हो गये । प्रिय पाठकवृन्द ! भावावेशकी इसी घटनाके साथ इस कथाका श्रीगणेश होता है ।

नीलांकरकी पत्नी पाषाणवत् खड़ी थी और उसका पति किसी भी अवस्थामें उसे क्षमा करनेके लिये तैयार नहीं था; क्रोधमें ही वह घर भी चला गया । बेचारी अबला उसी मूर्तिके आगे जा खड़ी हुई, जिसपर कुछ क्षण पहले ही उसने मातृस्नेहकी वर्षा अपने मुखके थूकसे की थी । सूर्यास्त होनेपर भी वह पूजामें खड़ी रही—उस रात संसार सोया, वह नहीं ।

नीलांकर गहरी नींदमें सोया हुआ था, अचानक उसे एक दिव्य प्रकाशका अनुभव हुआ, जिसके बीचोबीच उसने मङ्गलमूर्ति भगवान् शिवके दर्शन किये । भगवान् बोले, 'देखो नीलांकर ! मेरे शरीरकी ओर देखो ! उस स्थानके अतिरिक्त जिसपर कि तुम्हारी स्त्रीने थूका था दाने-ही-दाने हो गये हैं ।' नीलांकरके आश्चर्यकी सीमा न रही । उधर वह अलौकिक स्वरूप इतना कहकर अन्तर्धान हो गया । स्वप्नावस्थासे निवृत्ति पाकर नीलांकर उठा, उसने देखा कि भगवान् उसकी अपेक्षा उसकी पत्नीसे अधिक प्रसन्न हैं । वह मन्दिरकी ओर दौड़ा, जहाँ उसकी पत्नी आँख मूँदे भगवान्‌से प्रार्थना कर रही थी कि वे उसका पति उसे पुनः प्रदान करनेकी कृपा करें । नीलांकर सपत्नीक घर लौटा, जीवनमें पहली बार उसने वास्तविक प्रेमकी गहराई एवं औपचारिकताके खोखलेपनको देखा था ।

महान् शैव संत 'सम्बन्दर'के आगमनके कारण सम्पूर्ण नगरमें चहल-पहल थी और तमाम सड़कें सजी हुई थीं । उन्हींके साथ 'नीलाकंतर' भी थे, जिनका जन्म यद्यपि कुम्हार जातिसे था, फिर भी जो दिव्य स्वरूपके दर्शन कर चुके थे । नीलांकरने दोनोंका ही हार्दिक स्वागत किया । रात पड़नेपर संत 'सम्बन्दर' ने नीलांकरसे 'नीलाकंतर'को भी अपने यहाँ ठहरानेकी बात कही । शिवलिङ्गकी घटनासे यदि उसका हृदय परिवर्तन न हो चुका होता तो निश्चित ही वह ब्राह्मण होते हुए उस निम्नजाति (कुम्हार) के व्यक्तिको अपने घरके पासतक न फटकने देता; लेकिन तब पत्नीके पावन प्रेमसे पराजित नीलांकरने नीलाकंतरको वही कमरा दे दिया, जिसमें कि पुनीत अग्नि प्रज्वलित रहती थी । ज्यों ही नीलाकंतरकी आँख लगी अग्निने अलौकिक रूप धारण करके नीलांकरके निर्मल प्रेमका प्रदर्शन और सुषुप्त संतके हृदयकी निर्मलताकी घोषणा आरम्भ कर दी ।

सम्बन्दरने 'अवन्ती' नामके प्रति गाये हुए अपने पदोंमें नीलांकरके इस गरिमाशाली कार्यकी भी सराहना की है । कहते हैं संत सम्बन्दरके विवाहके समय एक महान् ज्योतिके दर्शन हुए और नीलांकर, जो उस समय वहीं उपस्थित था, उसी ज्योतिमें विलीन होकर अपने आराध्यसे एक-रूप हो गया ।

दक्षिणके शैव आज भी नीलांकरको एक संतके रूपमें पूजते हैं; लेकिन मैं अकसर सोचता हूँ कि क्या उसकी पत्नी वास्तवमें उससे बड़ी नहीं थी ।

दही और स्वास्थ्य

(लेखक—डॉ० श्रीकुलरञ्जन मुखर्जी)

स्मरणातीत कालसे मनुष्यकी खाद्य-तालिकामें दहीने एक विशिष्ट स्थान अधिकार कर लिया है। भारतवर्ष, तुर्क, मिश्र, अरमेनिया, यूगोस्लाविया, रूमानिया, रूस तथा मध्य यूरोपमें काफी समयसे दही एक पुष्टिकर खाद्यके रूपमें माना जाता है। विगत अर्ध-शताब्दीसे पश्चिम यूरोप एवं अमेरिकामें भी इसका प्रचलन क्रमशः बढ़ता जा रहा है।

साधारणतः यूरोप एवं अमेरिकामें गायका दूध ही दही जमानेके लिये व्यवहार किया जाता है। भारतवर्षमें गायके दूधके साथ भैंसका दूध भी व्यापकरूपसे व्यवहृत होता है। रूसमें भेड़, बकरी एवं गधेके दूधके द्वारा अत्यधिक परिमाणमें दही तैयार किया जाता है।

दही एक अति प्रयोजनीय दुग्धजात पदार्थ है एवं अतिशय पुष्टिकर खाद्य है। केवल चीनीको छोड़कर दूधके और सभी उपादान इसमें अविकृत रह जाते हैं। दूधकी इसी चीनीका दो तृतीयांश ही लैक्टोवेसिसद्वारा लैक्टिक एसिडमें परिणत हो जाता है।

दूधसे यदि मक्खन न निकाला जाय तो दहीमें ५ प्रतिशतसे लेकर ८ प्रतिशततक चर्बी, ३·२ से ३·४ भाग प्रोटीन, ४·६ से ५·२ भाग लैक्टोज, ०·५ से १·१ भाग लैक्टिक एसिड, ०·७० से ०·७५ भाग धातव लवण, ०·१२ से ०·१४ भाग कैलसियम, ०·०९ से ०·११ भाग फास्फोरस एवं ०·३ भाग लोहा पाया जाता है। दहीमें ८५ प्रतिशतसे ८८ प्रतिशत भागतक जल होता है।

दहीके भीतर हर सौ ग्रामके पीछे ३० मिलिग्राम राइबोफ्लाविन भी पाया जाता है तथा इसके भीतर विटामिन 'ए' भी किंचित् परिमाणमें वर्तमान रहता है। यह देखा गया है इसका राइबोफ्लाविन (एक श्रेणीका विटामिन 'बी') अंश दही जमनेके समय अपने-आप बढ़ता है। अधिकतर आश्चर्यका विषय यही है कि दही-जीवाणु आँतके भीतर 'बी' विटामिन उत्पन्न करता है। एवं वहाँसे वह शरीरमें शोषित हो जाता है।

दही अत्यन्त सरलतासे पच जानेवाला खाद्य है। यह दूधसे भी शीघ्र हजम हो जाता है। दहीके लैक्टिक एसिड द्वारा उसका प्रोटीन आंशिकरूपमें हजम होता है एवं कैलसियम भी अंशतः द्रवीभूत हो जाता है। इसीलिये ये सभी पदार्थ बड़ी सरलतासे शरीरमें शोषित हो जाते हैं एवं शरीरके काममें आते हैं। डॉ० विलियम मैकिनन मैरिअट, एम्० डी० का कहना है कि 'दही दूधकी अपेक्षा सरलतासे पच जाता है।' दहीका अम्लरस पित्त, क्लोमयन्त्र तथा आँतोंके रसस्रावमें सहायता करता है। फलस्वरूप सभी पाचकरस सरलतासे इसके भीतर प्रवेश कर सकते हैं तथा दूध पीनेके बाद साधारणतः जो बृहत् आकारका छेना पाकस्थलीमें उत्पन्न होता है, उसकी अपेक्षा अति शीघ्र ही यह पाकस्थली त्याग कर देता है। दहीका अम्लरस भी सहजमें ही शरीरके काममें आता है।

दही इसीलिये अत्यन्त आवश्यकीय माना गया है कि दही-जीवाणु आँतके भीतर स्थित रोग-जीवाणुओंको ध्वंस कर वहाँपर शरीरके लिये हितकर जीवाणुओंकी उत्पत्ति करता है।

मनुष्य-शरीरके आँतके भीतर स्वभावतः ही लैक्टोवेसिलस तथा एसिडोफिलस जीवाणु देखनेको मिलता है। दिन-प्रति-दिन जब पर्याप्त परिमाणमें दही ग्रहण किया जाता है, तब आँतके भीतर इन हितकर जीवाणुओंका एक उपनिवेश-सा गठित होता है। ये सभी जीवाणु आँतके भीतर खाद्य पदार्थको सड़ने नहीं देते एवं जिन सभी अहितकर जीवाणुओंके कारण पेटके भीतर खाद्य विकृत हो उठता है, ये क्रमशः उनका स्थान दखल करके अन्तमें उन्हें सम्पूर्ण रूपसे आँतसे निकालकर बाहर करते हैं।

मानव-शरीरके लिये हानिकारक जीवाणुओंको ध्वंस करनेकी शक्ति जो दहीमें है, वह कई एक परीक्षाओंद्वारा सम्पूर्णरूपसे प्रमाणित हो गयी है। आमाशय, टायफायड, एवं हैजेके जीवाणुको अत्यधिक संख्यामें दहीमें मिलाकर देखा गया कि ये सभी जीवाणु बहुत शीघ्र मर गये तथा केवल तीन घंटेके बाद उन्हें पृथक् करना असम्भव हो गया।

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि दही केवल शरीरके भीतर अनिष्टकारी जीवाणुओंकी वृद्धि ही नहीं रोकता, वरं उन सभी जीवाणुओंसे जो कि विष उत्पन्न होता है, उसे भी नष्ट कर डालता है।

अनुसंधान-कर्ताओंके एक दलने पता लगाया है कि नियमित दधि-भोजन त्याग करनेपर ११ से १८ महीनेके बाद भी आँतोंके भीतर दही-जीवाणु सक्रिय रहते हैं। दीर्घ गवेषणाके फलस्वरूप उनके मनमें यह धारणा बद्धमूल हो गयी है कि कोष्ठबद्धता, अजीर्ण, पुराना आमाशय तथा क्षतसंयुक्त ग्रहणी रोगमें दही अत्यन्त लाभदायक खाद्य है।

परीक्षामूलक रूपसे ही टी० बी०के कुछ रोगियोंको दही दिया गया। उन्हें प्रतिदिन २४० से १००० मिलिमीटर दही खानेको दिया जाता था। फलस्वरूप उनके शरीरमें आरोग्यके लक्षण स्पष्ट हो उठे।

चिकित्सा-सम्बन्धी विस्तृत गवेषणाके फलस्वरूप यह निस्संदेह प्रमाणित हो चुका है कि नियमित रूपसे दही सेवन करनेपर आँतोंका स्वास्थ्य यथेष्ट रूपसे उन्नति लाभ करता है।

रूसके विख्यात गवेषणाकारी अध्यापक मेचनीकफका अटल विश्वास था कि प्रतिदिन यथेष्ट परिमाणमें दही खानेपर अकालपक्वता (शीघ्र ही बूढ़ा हो जाना) एवं दैहिक क्षतिको रोका जा सकता है। जो जीवाणु मनुष्यको शीघ्र वृद्ध बना देते हैं, उनका विचार था कि वे बड़ी आँतमें ही रहते हैं। वृद्धोंके मलसे उन्होंने एक प्रकारका सीरम तैयार किया एवं उसे कई एक बंदरोंके शरीरमें प्रवेश कराकर वे उन्हें वृद्ध बनानेमें समर्थ हुए। बादमें पुनः दहीसे दही-जीवाणु लेकर उसे बंदरोंके शरीरमें प्रवेश करा दिया। फलस्वरूप वे पुनः स्वास्थ्यवान् हो पहिले-जैसे हो गये।

बहुतोंका यह विश्वास है कि यदि प्रतिदिन एक बार अथवा सम्भव होनेपर एकसे अधिक बार दहीका सेवन किया जाय, तो दीर्घजीवन लाभ हो सकता है। इस विषयमें बलगेरियावासियोंकी बात प्रायः ही उल्लेख की जाती है। वे पृथ्वीके अन्यान्य बहुत-सी जातियोंकी अपेक्षा अधिक मात्रामें दही भोजन करते हैं। इसीलिये बलगेरियामें शतायु लोगोंकी संख्या अधिक है।

बाजारमें सर्वदा दही खरीदा जा सकता है, किंतु दूधके दहीका जावन (वह थोड़ा दही जिसे लेकर दूधके बर्तनमें लगानेपर दही जम जाता है) मिलाकर अनायास ही घरपर दही जमाया जा सकता है।

दही जमानेके लिये सर्वदा खाँटी तथा सर्वोत्तम दूध व्यवहार करना उचित है। दूधमें जावन देनेसे पूर्व उसे दस मिनटतक गरम करना चाहिये। बादमें जब वह कुछ गरम हो जाय, तो उसमें ताजे दहीका जावन भलीभाँति मिलाना आवश्यक है। साधारणतया प्रति आध सेर दूधके लिये चायके चम्मचसे एक चम्मच जावन ही यथेष्ट है।

जो जावन व्यवहार किया जाता है, उसके ऊपर ही दहीका गुण-अवगुण अधिकांशरूपमें निर्भर करता है। जावन जितना अच्छा होगा, दही उतना ही सुगन्धयुक्त होगा तथा वह उतना ही घना होकर जमेगा। पुराना अथवा खराब जावन व्यवहार करनेपर बढ़िया दही तैयार करना असम्भव है।

गर्मीके दिनोंमें थोड़े ही यत्नद्वारा दूध जमकर दही हो जाता है। किंतु शीत ऋतुमें उसे कम्बल आदिके द्वारा भलीभाँति ढँककर गरम स्थानमें रखना जरूरी है।

गरमीके दिनोंमें दही जमानेमें पाँचसे छः घंटेतकका समय लगता है, किंतु शीतऋतुमें इसके लिये अत्यधिक समयकी आवश्यकता होती है।

तथापि चेष्टा करनेपर जिस किसी भी ऋतु एवं समयमें केवल दो घंटेके भीतर दही जमाया जा सकता है। इसके लिये जावनका कुछ भाग पात्रके भीतर लेपकर तथा शेष भाग दूधके साथ मिला देना चाहिये। बादमें इसे कम्बल इत्यादिके द्वारा ढँककर धूपमें रख देना उचित है। ऐसा करनेपर केवल दो घंटेके भीतर ही दूध घना होकर जम जाता है। यदि सूर्य बादलसे ढँका हो अथवा सूर्यका ताप तीव्र हो तो दूसरे एक और गरम जलके पात्रमें दहीका पात्र रख देना उचित है। इससे थोड़े ही समयमें दही तैयार हो जाता है।

इस प्रकार जमाया हुआ दही कुछ देरतक थोड़ा गरम रहता है। जब यह सम्पूर्ण रूपसे ठंढा हो जाय, तभी इसे व्यवहार करना उचित है।

साधारणतः दही घना जमानेके लिये दूधको खूब गरम किया जाता है। इससे दही दुष्पाच्य हो उठता है, अर्थात् दही काफी देरसे पचता है। किंतु अति उत्कृष्ट श्रेणीका दही जमाया जाता है, दूध गरम करनेके पहले उसमें दूधका पाउडर डालकर। दूधका पाउडर यदि विशुद्ध हो तो वह मक्खन निकाला होनेपर भी कोई नुकसान नहीं होता। कारण उसके भीतर एक चर्बीको छोड़कर दूधके और सभी उपादान वर्तमान रहते हैं। दूधकी बुकनी मिलानेपर दही

इतना ठोस होता है कि दहीका पात्र उलटनेपर भी वह नहीं गिरता।

दही उत्कृष्ट श्रेणीका बना है अथवा नहीं, यह जाननेके लिये कई एक लक्षण हैं। अच्छा दही बिल्कुल घना होकर जमता है। उसमें पानी नहीं होता, बुलबुले नहीं उठते, फटा चिह्न अथवा छिद्र नहीं रहता तथा दहीके ऊपर एक छाली-सी पड़ जाती है। दहीके ऊपरी भागकी छालीमें ४९ प्रतिशत चर्बी-जातीय पदार्थ होता है, द्वितीय स्तरमें २३.५ प्रतिशत, तृतीय स्तरमें १९.९ प्रतिशत तथा सर्व-निम्न स्तरमें चर्बीका केवल ७.६ प्रतिशत ही रहता है। इसीलिये दहीका पहिला भाग सभीके लिये अत्यन्त प्रिय है।

दही ग्रहण करनेके बहुत-से उपाय हैं। साधारणतः पात्रसे चम्मचद्वारा उठाकर इसे खाया जाता है। भातके सहित मिलाकर भी इसे ग्रहण किया जाता है। दक्षिण भारतके बहुत-से स्थानोंमें लोग इसे इसी तरह खाते हैं।

फल अथवा सब्जीके सलादके साथ भी दही खाया जा सकता है। दही मिलानेपर सलादका स्वाद काफी बढ़ जाता है एवं स्वास्थ्य और खाद्यके मूल्यकी दृष्टिसे भी यह उन्नति लाभ करता है।

दहीके साथ २५ से ५० प्रतिशत पानी मिलाकर इसका घोल बनाया जाता है। सारे भारतवर्षमें लोग इसे बड़े चावसे पीते हैं तथा यह दहीकी भी अपेक्षा शीघ्र पच जाता है। कभी-कभी इसमेंसे मक्खन निकाल लिया जाता है, उस समय यह और भी सुपाच्य हो उठता है।

चर्बी-वर्जित पुष्टिकर खाद्यके रूपमें यकृत्, कमला अथवा पीलिया तथा स्प्रू आदि रोगोंमें इसका व्यवहार व्यापक रूपसे किया जाता है।

दहीके साथ पानी, नमक, चीनी तथा कागजी नीबू मिलाकर उत्तम शर्बत तैयार किया जाता है। यह अत्यन्त जनप्रिय खाद्य है। विशेषतः ग्रीष्मकालमें सर्वसाधारणके प्रिय खाद्यके रूपमें यह समादर लाभ करता है। यदि पानीके बदले इसमें फलका रस अथवा कच्चे नारियलका पानी मिलाकर शर्बत तैयार कियाँ जाय तो स्वाद एवं पुष्टईकी दृष्टिसे इसका मूल्य विशेषरूपसे बढ़ जाता है।

कई बार दहीमेंसे पानी निकालकर उसे छेनेमें परिणत किया जाता है। पतले कपड़ेमें बाँधकर कुछ समयतक झुला रखनेसे इसमेंका सारा पानी झर जाता है। यह अत्यन्त सुस्वादु होता है तथा भारतवर्षके बहुत-से स्थानोंमें परम स्वादिष्ट तथा पुष्टिकर खाद्यके रूपमें ग्रहण किया जाता है। किंतु साधारण अवस्थामें दहीका पानी कभी भी फेंक देना उचित नहीं। यद्यपि दहीके जलमें नाममात्रका प्रोटीन और चर्बी होती है, तथापि इसमें दहीके कैलसियमका आधा एवं चीनीका पूरा भाग पाया जाता है।

यूरोपमें भी दहीके साथ चीनी और क्रीम मिलाकर एवं बादमें उसे सुगन्धितकर खाया जाता है। वहाँ इसे जानेकेट कहते हैं। यह अत्यन्त स्वादिष्ट एवं जनप्रिय खाद्य है।

यद्यपि शरीररक्षात्मक खाद्योंमें इसका स्थान बहुत ऊँचा है, फिर भी यह सबके द्वारा सह्य नहीं होता। मलेरिया, अंवल, पुरानी सर्दी, खाँसी अथवा वातकी बीमारीमें रोगियोंको दही देनेपर इससे बीमारी और भी बढ़ती है। किंतु इन सभी रोगोंमें थोड़े समयमें जमा हुआ ताजा दही खानेपर विशेष किसी हानिकी सम्भावना नहीं रहती।

गोकुलके लोचन

आवत हैं गोकुलके लोचन।
नंदकिसोर जसोदा नंदन मदन-गुपाल बिरह-दुख-मोचन ॥ १ ॥
गोपबृंदमें ऐसे शोभित ज्यों नछत्रमें पूरन चंद।
बनज धातु गुंजामनि सेली भेष बन्यो हरि आनँदकंद ॥ २ ॥
बरहा मुकुट कंठ मनि-माला अद्भुत नटवर बेष जु काछें।
कुंडल लोल कपोल बिराजत मोहन बेनु बजावत आछें ॥ ३ ॥
भक्तबृंद पावन जस गावत यह बिध ब्रज प्रवेस हरि कीनो।
परमानँद-प्रभु चलत ललित गति जसुमति धाय उछँग गहि लीनो ॥ ४ ॥

॥ श्रीहरिः ॥

भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीशिव, भगवती लक्ष्मी, श्रीदुर्गा आदिके भव्य दर्शन

गीताप्रेस, गोरखपुरकी चित्रावलियाँ

साइज १५×२० नं० १, दाम २।।।), पैकिंग और डाकखर्च १)

इसमें १५×२० साइजके बढ़िया आर्टपेपरपर छपे हुए २ सुनहरे तथा ८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं। टाइटल मोटे कागजपर छापकर लगाया गया है। चित्रोंके नाम निम्नलिखित हैं—

सुनहरी—१–युगल छवि, २–आनन्दकंद पालनेमें।

बहुरंगे—१–वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण, २–श्रीव्रजराज, ३–भगवान् श्रीकृष्णरूपमें, ४–श्रीराम-दरबार, ५–भुवनमोहन राम, ६–भगवान् शंकर, ७–भगवान् नारायण, ८–श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी।

साइज १५×२० नं० २, दाम २।।।), पैकिंग और डाकखर्च १)

सुनहरी—१–भगवान् श्रीराम, २–आनन्दकंदका आँगनमें खेल।

बहुरंगे—१–विश्वविमोहन श्रीकृष्ण, २–श्रीराधेश्याम, ३–श्याममयी संसार, ४–श्रीरामचतुष्टय, ५–महावीर, ६–भगवान् विश्वनाथ, ७–भगवान् विष्णु, ८–भगवान् शक्तिरूपमें।

साइज १५×२० नं० ३, दाम २।।।), पैकिंग और डाकखर्च १)

सुनहरी—१–रामदरबारकी झाँकी, २–कौसल्याका आनन्द।

बहुरंगे—१–मुरलीमनोहर, २–श्रीनन्दनन्दन, ३–महासंकीर्तन, ४–कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म, ५–दूल्हा राम, ६–ध्रुव-नारायण, ७–ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति, ८–श्रीलक्ष्मी-नारायण।

उपर्युक्त १५×२० साइजके—एक चित्रावलीका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य ३।।।), दो चित्रावलियोंका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य ६।।।=), तीन चित्रावलियोंका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य १०।।)

साइज १०×७।। नं० १, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ।।।=)

इसमें १०×७।। साइजके बढ़िया आर्टपेपरपर छपे हुए २ सुनहरे तथा १८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं। टाइटल मोटे कागजपर छापकर लगाया गया है। चित्रोंके नाम निम्नलिखित हैं—

सुनहरी—१–युगल छवि, २–साकार-निराकार ब्रह्म।

बहुरंगे—१–श्रीगणपति, २–कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म, ३–ध्यानमग्ना सीता, ४–दीपावलि-दर्शन, ५–श्रीरघुनाथजी, ६–प्यारेका बन्दी, ७–दधि-माखनके भूखे, ८–भक्त-मन-चोर, ९–वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण, १०–श्रीबाँकेविहारी, ११–श्रीराधाकृष्ण, १२–द्रौपदीको आश्वासन, १३–श्रीगौरी-शंकर, १४–भगवान् श्रीशंकर, १५–भगवान् श्रीविष्णु, १६–श्रीलक्ष्मीजी, १७–महावीरका महान् कीर्तन, १८–भारतमाता।

साइज १०×७।। नं० २, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ।।।=)

सुनहरी—१–श्रीभगवान्, २–भगवान् श्रीराम। *बहुरंगे*—१–वनवासी राम, २–तपोवनके दिव्य पथिक, ३–पुष्पकविमानपर, ४–भगवान् श्रीराम-लक्ष्मण, ५–श्रीरामदरबार, ६–मथुरासे गोकुल, ७–श्रीकृष्ण-यशोदा, ८–व्रज-सर्वस्व, ९–मुरलीका असर, १०–श्याममयी संसार, ११–व्रजराज, १२–विहारीलाल, १३–श्रीराधेश्याम, १४–योगीश्वर श्रीशिव, १५–शिव-परिवार, १६–पर्वताकार हनुमान्‌जी, १७–लक्ष्मीनारायण, १८–श्रीदुर्गा।

प्रार्थना

यद्यपि वर्तमानमें ऐसी कोई बीमारी नहीं दीखती, जिससे प्राण छूटनेकी सम्भावना हो, तथापि बिना [illegible] भी प्राण चले जा सकते हैं। शरीर अभी जाय या बरसों बाद, इससे कोई मतलब नहीं; [illegible] ना हूँ कि मृत्युसे पूर्व सभी लोगोंसे क्षमा प्राप्त कर लूँ । अतः मैं 'कल्याण' के लेखक [illegible] महात्मा आचार्य साधु-संतोंसे, नये-पुराने सभी ग्राहक-ग्राहिकाओं तथा पाठक-पाठिकाओंसे हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि जानमें या अनजानमें मुझसे [illegible] भूलें हुई हैं तथा किसीके प्रति कोई अपराध बना है, उन सबके लिये वे मुझे कृपापूर्वक क्षमा करें और ऐसा आशीर्वाद या सद्भावना दें, जिससे शेष जीवनमें कभी किसीका अपराध न बने और जीवनके अन्तिम क्षणमें [illegible] भगवान्‌के चरणकमलोंमें लगा रहे ।

विनीत—हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक 'कल्याण'

सूचना

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके कई दिनोंसे अस्वस्थ रहनेके कारण उनके नाम आये हुए पत्रोंका उत्तर [illegible] दिया जा सका है, पत्र-लेखक महानुभाव कृपया क्षमा करें ।

—चिम्मनलाल गोस्वामी

[illegible]

कुछ स[illegible]य पहले एक बहिनने कोटाके समीप किन्हीं महात्माके आश्रमकी बातें लिखी थीं, उस आश्रमका तथा उन महात्माका वर्तमान पता कई लोग जानना चाहते हैं, वह बहिन या अन्य कोई सज्जन जानते हों तो लिखनेकी कृपा करें ।

सम्पादक—'कल्याण', गोरखपुर

गीता-रामायण-परीक्षा-समितिका स्थान-परिवर्तन

सूचित किया जाता है कि दिन[illegible] १ सितम्बर १९५६ को समितिका कार्यालय गोरखपुरसे स्वर्गाश्रम, पो० ऋषिकेश (देहरादून) जानेवा[illegible], अतः आगेसे पत्रव्यवहारका यही पता होगा ।

—व्यवस्थापक